भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव पर प्रकाशित .

श्री अमर जैन साहित्य संस्थान का १६वां पुष्प

कृति · चितेरो के महावीर (उपन्यास)

लेखक : डॉ० प्रेम सुमन

भूमिक : श्री गणेश मुनि शास्त्री

प्रकाशक मन्त्री, अमर जैन साहित्य सस्थान, उदयपुर

प्रथम आवृत्ति अप्रेल १६७५

मूल्य : छह रुपए

प्राप्ति स्थान श्री हरिसिंह चौधरी

प्रबन्धक . अमर जैन साहित्य संस्थान
एम. जे. एम. कोर्ट
गुलावपुरा (भीलवाडा)
राजस्थान

मुद्रक : मनोज प्रिन्टर्स
गोदीको का रास्ता, किशनपोल बाजार
जयपुर–३०२००३

CHITERON KE MAHAVIRA (Novel)
By
Dr. PREM SUMAN

प्रकाशकीय

वर्तमान युग में प्रेम और शान्ति के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि मानव भगवान महावीर के जीवन-दर्शन को अपने जीवन मे उतारे। महावीर की जीवन-गाथा जितनी प्रेरणास्पद है, उतनी ही सरस। उनके जीवन को साहित्य की विभिन्न विधाओ मे अनेक ग्रन्थो द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासिक शैली मे एक–दो रचनाएं ही प्रकाश मे आयी हैं। हमे प्रसन्नता है कि महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष पर सस्थान द्वारा हम एक ऐसा उपन्यास प्रकाशित कर रहे हैं जिसमे भगवान महावीर के बहु-आयामी व्यक्तित्व का प्रथम बार उद्घाटन हुआ है।

'चितेरो के महावीर' एक ऐसी कृति है जिसमें श्रमण-परम्परा, महावीर का सम्पूर्ण जीवन तथा उनके उपदेशो को सरस और सुबोध शैली मे प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के विद्वान् लेखक डॉ० प्रेम सुमन जैन जैनविद्या और भारतीय सस्कृति के जाने-माने मनीषी हैं। आपकी प्रतिभा कई रूपो मे उभर कर सामने आयी है। प्राकृत भाषा व साहित्य के उन्नयन मे डॉ० सुमन से कई आशाए हैं। प्रस्तुत उपन्यास पर उन्हे जैन ट्रस्ट कलकत्ता की ओर से पुरस्कृत किया गया है। आशा है, आपकी अन्य पुस्तकें भी साहित्य और शिक्षा जगत् मे इसी आदर के साथ अपनायी जायेंगी।

प्रस्तुत कृति श्रद्धेय श्री गणेश मुनिजी शास्त्री को इतनी पसन्द आयी कि उन्होने न केवल इसकी भूमिका लिख देने की कृपा की, अपितु इसके प्रकाशन के लिए भी हमे प्रेरित किया। उनकी इस अनुकम्पा के लिए हम आभारी हैं कि उन्होने हमे एक उत्कृष्ट कृति पाठको के समक्ष लाने का अवसर प्रदान किया। श्री मुनिजी स्वयं एक अच्छे साहित्यकार एव विद्वान् साधक हैं। उनकी कलापारखी दृष्टि का उदाहरण है—'चितेरो के महावीर' का प्रकाशन।

'चितेरो के महावीर' जिम पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है तदनुसार इसमे हम कुछ रेखाचित्र भी देना चाहते थे। किन्तु प्रकाशन की शीघ्रता के कारण यह सम्भव नही हो सका। फिर भी मुद्रण की दृष्टि से इसकी जो साज-सभार की गयी है उसके लिए भाई श्री महेशजी का प्रयास सराहनीय है। इस कृति के प्रकाशन मे अर्थ-सहयोग देने वाले उदारमना महानुभावो के हम आभारी हैं, जिनके सहयोग से यह कृति शीघ्र पाठको के हाथो मे पहुच रही है। आशा है, सभी क्षेत्रो मे इस कृति का अनुरूप स्वागत होगा।

मन्त्री

अमर जैन साहित्य सस्थान

भूमिका

भगवान महावीर इतिहास का एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिससे दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक क्षेत्र निरन्तर प्रभावित होते रहे हैं। न केवल भाषा एव साहित्य के क्षेत्र मे महावीर का व्यापक प्रभाव है, अपितु भारतीय शिल्प मे भी महावीर के जीवन-दर्शन की अनेक छविया अकित है। महावीर के जीवन-दर्शन की निष्पत्ति अहिंसा है। समभाव की प्रतिष्ठा। आत्म-ज्ञान की उपलब्धि। महावीर ने जीवन के समग्र विकास के लिए समाज को एक नयी आचार-सहिता दी है। व्यक्ति के स्वत्व की प्रतिष्ठा की है। महावीर की इन समस्त उपलब्धियो के परिप्रेक्ष्य मे उनके व्यक्तित्व को उजागर किया जाना नितान्त आवश्यक है।

इस वर्ष भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव पर देश-व्यापी कार्यक्रम हो रहे हैं। विपुल साहित्य प्रकाशित हुआ है। महावीर के जीवन एव उपदेशो का अनुशीलन करने वाले छोटे-बडे कई ग्रन्थ प्रकाश मे आये हैं। उनमे प्रबन्ध-शैली के ग्रन्थ हैं और काव्य भी। किन्तु उपन्यास विधा मे महावीर के जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने वाली 'चितेरो के महावीर' अपने ढग की सर्वप्रथम कृति है। डॉ० प्रेम सुमन जैन द्वारा १९७२ मे लिखा यह उपन्यास पाठको के सामने अब आ रहा है, जबकि श्री वीरेन्द्रकुमार जैन का वृहत् उपन्यास 'अनुत्तरयोगी तीर्थङ्कर महावीर' भी प्रकाशित हो चुका है।

'चितेरो के महावीर' के लेखक डॉ० प्रेम सुमन जैन युवा साहित्यकार हैं। पालि, प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओ व साहित्य के अध्ययनशील विद्वान्

होते हुए भी डॉ० सुमन की साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियो मे भी अभिरुचि है। उनकी इसी मेधा का प्रतिफल है—प्रस्तुत कृति। महावीर-कथा। महावीर-दर्शन।

प्रस्तुत कृति कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित प्राय सभी तथ्यो को इस कृति मे सजोया गया है। परम्परागत मतभेदो को लेखक ने वडी कुशलता से उपस्थित किया है। उनके मूल तक जाने का प्रयत्न किया है। महावीर के बहु-आयामी व्यक्तित्व को लेखक ने विभिन्न घटनाओ, प्रसगो एव मान्यताओ मे छिपे प्रतीको के माध्यम से उजागर किया है। अत. इस लघु कृति मे प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थो की प्रामाणिकता है तथा चिन्तन की स्वतन्त्रता भी। दोनो के प्रस्तुतीकरण मे महावीर साक्षी रहे है।

महावीर के दर्शन को इस कृति मे सुन्दर ढग से नियोजित किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र की अभिव्यक्ति ही है महावीर का सम्पूर्ण जीवन। उपन्यास मे लेखक ने आचार्य कश्यप और उनके जिज्ञासु शिष्यो की अवधारणा द्वारा विपय की गम्भीरता और रोचकता दोनो मे सामन्जस्य वनाये रखा है। महावीर के प्रति भारतीय कलाकारो की अर्चना तथा साधक आचार्यों व शिष्यो की सामायिक है यह कृति। अत 'चितेरो के महावीर' उन सवके महावीर वन जाते हैं, जो उन्हे अपने चित्त मे अकित करने के लिए आतुर है। प्रयत्नशील।

अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर द्वारा अभी तक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, वह आध्यात्म एव काव्य रस से परिपूर्ण है। सौभाग्य से 'चितेरो के महावीर' भी ऐसी ही कृति है। सस्थान ने इसका प्रकाशन कर अपने पाठको के स्वाध्याय के लिए एक महनीय अवसर प्रदान किया है।

वर्तमान युग मे जीवन-मूल्यो व नैतिक आचरण की जिस प्रतिष्ठा की आवश्यकता है वह रोचक शैली मे लिखे गये असाम्प्रदायिक प्रेरणाप्रद साहित्य से ही पूरी हो सकती है। इधर कुछ लेखक इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं। डॉ० सुमन की यह कृति ऐसे ही चिन्तन और प्रयास का फल है। मेरी उन्हे

दो शब्द

श्रमण-परम्परा के २४वें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के सम्वन्ध मे परम्परा से जो सुना, प्राचीन ग्रन्थो मे जो पढा तथा ग्राधुनिक विचारको द्वारा की गयी महावीर के जीवन के प्रसगो की व्याख्या से जो कुछ मेरा जिज्ञासु मन ग्रहण कर सका उस सवके मन्थन का नवनीत है प्रस्तुत कृति। महावीर की दृष्टि सत्यान्वेपी एव ग्रनाग्रहपूर्ण थी । ग्रत उसी का अनुसरण करते हुए इस पुस्तक मे उन प्रसगो को भी नवीन व्याख्या के साथ रख दिया गया है, जिनके सम्वन्ध मे परम्परागत मतभेद हैं। इस ग्रपेक्षा के साथ कि महावीर की पावन गाथा के अनुशीलन मे चिन्तन और ग्रधिक गतिशील हो। उस परम आत्मा का स्वरूप निरन्तर उजागर हो।

प्रस्तुत कृति की शैली क्या है, इसका निर्णय समीक्षक करेंगे। ग्रपनाया इसे इसलिए गया है कि पाठक महावीर के चरित एव उनके आत्मबोधक उपदेशो मे न केवल रुचि लें, अपितु उनके प्रभावो का भी ग्रनुभव करें। शिल्पी-सघ का एक सदस्य या कलाकार होकर। प्रश्नोत्तर का सयोजन इसलिए कि वोधगम्य सम्प्रेषरण बना रहे। स्वतन्त्र-चिन्तन ग्रवरुद्ध न हो। कृति मे तथ्यात्मकता, सत्य के प्रति निष्ठा एव ग्रौपन्यासिक रसात्मकता बनी रहे इसे महेजा गया है। ग्राचार्य कश्यप की कुल-परम्परा एव उदयगिरि की उपत्यका सम्पूर्ण कथा की साक्षी के रूप मे उपस्थित है। ग्रच्छा होता यदि कोई चित्रकार वे रेखाचित्र भी उकेर सकता, जिनकी परिकल्पना इस उपन्यास मे ग्रादि से अन्त तक की गयी है। किन्तु प्रकाशन की शीघ्रता के कारण यह सम्भव नही हुग्रा।

कृति का वातावरण प्राचीन होते हुए भी ग्रर्वाचीन उपलब्धियो से ग्रज्ञात नही है। इसीलिए आचार्य कश्यप वह सव कुछ कह सके जो ग्राज तक महावीर

के सम्बन्ध मे कहा गया एव कहा जा सकता है। भाषा एव काल के बन्धनो से वे इसलिए मुक्त हैं, क्योकि जिनकी कथा के वे साक्षी हैं वे महावीर सर्वथा मुक्त है। पाठक व श्रावक की स्वतन्त्रता उनकी रुचि-सम्पन्नता पर निर्भर है।

शैली की सरलता और रोचकता के कारण कृति को उदाहरणो से मुक्त रखा गया है। यद्यपि कथावस्तु के विषय एव प्रतिपादन की भूमिका मे प्राचीन ग्रन्थो के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानो व चिन्तको की कृतिया भी रही हैं। उन सबके लेखको व सम्पादको का मैं आभारी हूँ।

'चितेरो के महावीर' की विषयवस्तु को शैली-भिन्नता के कारण अध्यायो आदि मे विभक्त नही किया गया है। शीर्षक स्वतन्त्र भी लग सकते है, क्रमबद्ध भी। उनकी सबसे बडी क्रमबद्धता यही है कि वे महावीर के जीवन-क्रम के साथ ही आगे बढे हैं। प्राय. विषय को वही शीर्षक दिए गए हैं, जो महावीर के गुणो को प्रगट करते हैं। विशेषकर देशना वाले प्रसग मे।

महावीर उन सबके हैं, जो उनके गुणो के साक्षी होकर अपनी आत्मा के विकास के प्रति सजग हैं। विवेकशील। सजगता व विवेक के माध्यम व्यक्तिगत हो सकते हैं। चित्रकारो के प्राण उनकी कला है। कला के माध्यम वे महावीर को अभिव्यक्ति दे सकें इसलिए 'चितेरो के महावीर' नाम देने मे कृति की सार्थकता है। वैसे हर प्राणी अपनी क्रियाओ द्वारा नाना प्रकार के कर्मों मे चित्रित होता रहता है। ऐसे कर्मों के चितेरे कब और कहा पर महावीर का सानिध्य उपलब्ध कर लें यह उनके परिणामो की विशुद्धता पर निर्भर है। कृति का प्राणपात्र आचार्य कश्यप इसका एक उदाहरण है।

श्रद्धेय स्व बाबू जुगमदिरदास जैन कलकत्ता द्वारा जैन ट्रस्ट के माध्यम आयोजित अ भा. प्रतियोगिता मे प्रस्तुत कृति ने प्रवेश पाया। विद्वान् निर्णायको ने इसे सर्वोच्च पुरस्कार के योग्य समझा। तथा श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी के विद्वान् शिष्य श्री गणेश मुनि शास्त्री ने इसके स्वाध्याय के बाद इसके प्रकाशन की व्यवस्था की। इस तरह श्रावक, विद्वान् एव साधक मुनियो की दृष्टि से गुजर कर 'चितेरो के महावीर' पाठको के हाथ में है। उन्हे यह कृति पसन्द आये तथा उनके विवेक-जागरण में सहायक हो, यही कृति की सार्थकता होगी।

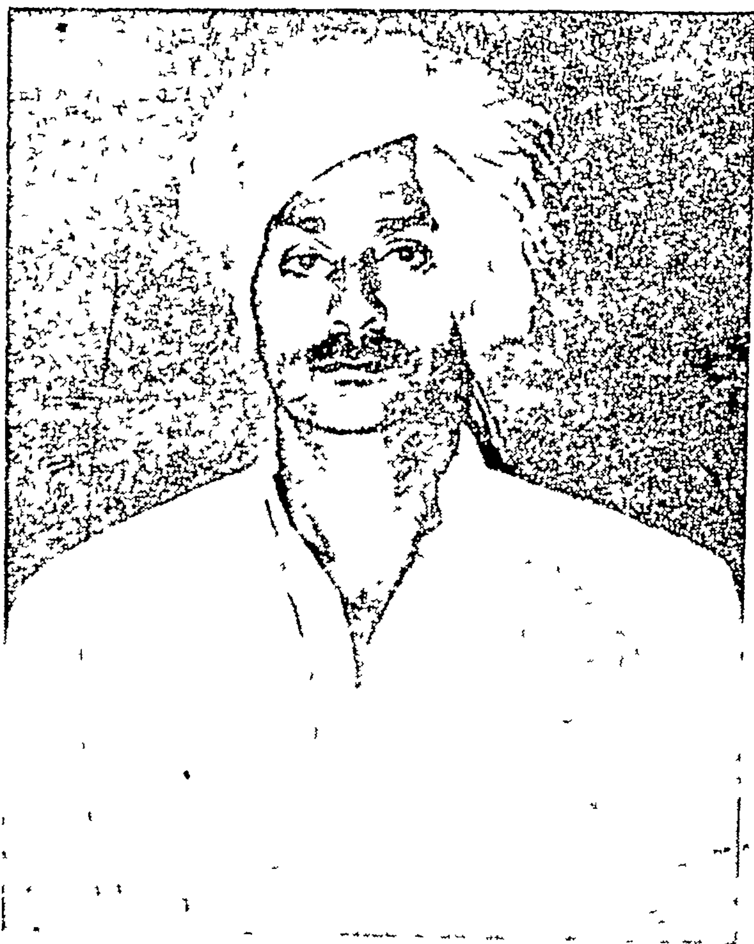
श्रद्धेय श्री गणेश मुनि शास्त्री भगवान महावीर की परम्परा के साधक हैं। साहित्यकार एव कुशल उपदेशक भी। उनके ग्रन्थ उनकी मनीषा के परिचायक हैं। अमर जैन साहित्य सस्थान के अन्य प्रकाशन एव प्रस्तुत कृति मुनिजी की उस धर्म-प्रभावना वृत्ति का विस्तार है जिसके माध्यम वे सत्साहित्य को जन-जन तक पहुचा देना चाहते हैं। थोडे समय मे ही उचित अवसर पर प्रस्तुत कृति के प्रकाशन की उन्होंने जो व्यवस्था करायी उसके लिए मैं उनका आभारी हू। उनकी विद्वत्तापूर्ण इस भूमिका के लिए भी, जिसने इस कृति का गौरव वढाया है।

आभार उन सबका भी जो महावीर की पावन गाथा को इस रूप मे प्रस्तुत किये जाने मे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप मे सहयोगी रहे हैं। भाई श्री महेशचन्द्र जी का तो यह महावीर के प्रति सामायिक है कि उन्होने रात-दिन जुटकर थोडे समय मे इसके मुद्रण को कलात्मकता प्रदान की है।

प्रेम सुमन

८, रवीन्द्रनगर, उदयपुर
महावीर जयन्ती, १९७५

'चितेरों के महावीर' में आर्थिक सहयोगी



स्व० श्रीमान जवाहरमल जी गन्ना
भीम (उदयपुर राज०)



स्व० श्रीमती राजीबाई गन्न।
भीम (उदयपुर राज०)

स्व० श्री जवाहरमल जी गन्ना : एक परिचय

जिन्दगी ऐसी बना, जिन्दा रहे दिलशाद तू ।
जब न हो दुनिया मे तो, दुनिया को आए याद तू ।।

अगरबत्ती स्वय जलकर दूसरो को सुगन्ध देती है । मोमबत्ती स्वय गलकर दूसरो को प्रकाश देती है । वैसे ही भारतीय जन-जीवन मे उन्ही व्यक्तियो का जीवन महान् व सार्थक समझा गया है जिन्होने ससार को अहिंसा, दया, प्रेम, करुणा और क्षमा की सुगन्ध प्रदान की है । विनय, विवेक, और ज्ञान का जगमगाता सर्चलाईट दिया है । जो दूसरो के हितार्थ जीवित रहे हैं, और दूसरो के हितार्थ अपने को समापन किया है, ऐसे जीवन के महान् कलाकार ही तो जन-जन के हृदयों पर अपनी अमिट छाप छोडकर जाते हैं ।

स्वर्गीय दानवीर सेठ श्री जवाहरमल जी गन्ना का जीवन वस्तुत एक महान् जीवन था, जिनका जन्म मेवाड की पुण्यधरा—भीमग्राम मे स० १९७९ फाल्गुन शुक्ला तीज के रोज हुआ था । आपके पिता का नाम वृद्धिचन्द जी तथा माता का नाम टेकुबाई था । आप दो भाई थे । बडे भाई का नाम श्री केसरीमल जी गन्ना जो अभी भीम मे ही रहते हैं ।

आपका बचपन सुन्दर रूप से बीता । प्रारम्भ मे पिता श्री की विद्यमानता मे ही आप व्यापार कला मे दक्ष वन गये थे । अपनी कुशल बुद्धि से अल्प समय मे काफी पैसा कमा लिया था । आपकी शादी ताल ग्राम मे हुई थी । आपकी धर्मपत्नी 'राजीबाई' बडी धर्मात्मा, दानशीला व एक आदर्श श्राविका थी । उसने अपने धार्मिक विचारो से जवाहरमल जी को भी सच्चा 'जवाहर' वना दिया था । प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण करना, ग्राम मे रहते हुए सन्त-सतियो के दर्शन किये विना भोजन नही करना । रात्रि मे चौविहार रखना । आठम-चौउदस को उपवास-व्रत करना आपके जीवन की प्रमुख विशेपताए थी ।

साधु-सन्तो की सेवा-भक्ति के अतिरिक्त गरीबों का भी आप खूब ध्यान रखते थे। अन्न, जल और वस्त्रो से उन्हें शान्ति पहुचाते थे।

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय प्रभृति सभी क्षेत्रो मे आपका जीवन चमक-दमक उठा था। किन्तु क्रूरकाल की गति बडी विचित्र है। अकस्मात हृदय रोग का आक्रमण हो जाने से स० २०३१ माघ शुक्ला अष्टमी के रोज ५२ वर्ष की अल्पायु मे आप भरे पूरे परिवार को छोडकर ससार से विदा हो गये। आपकी धर्मपत्नी राजीबाई दो वर्ष पूर्व ही स्वर्गस्थ हो गयी थी। आपके तीन पुत्र हैं—रोशनलाल जी, वस्तीमल जी, गणपतलाल जी। ये तीनो पूज्य पिताश्री की ही प्रतिकृति हैं। इनमे भी पिताश्री के जैसी ही शालीनता व उदारता देखी जाती है। समाज को इनसे बहुत आशा है।

परम श्रद्धेय विद्वद्रत्न व्याख्यान वाचस्पति श्री गणेश मुनिजी शास्त्री की सद्प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर श्रीमान रोशनलाल जी गन्ना ने अपने स्वर्गस्थ पिताश्री की पुण्य स्मृति मे प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे एक हजार रुपये का उदार सहयोग देकर जो अपनी साहित्यिक अभिरुचि का परिचय प्रदान किया, तदर्थ हम उनके आभारी हैं। उनका समस्त परिवार धर्म-परायण बने इसी मगल कामना के साथ...।

मन्त्री

श्री अमर जैन साहित्य सस्थान, उदयपुर

अनुक्रम

००

चितेरों के महावीर

१. जिज्ञासा

वेतवा के किनारे उदयगिरि की एक चट्टान पर एक सौम्य, गौरवर्ण पुरुष आकाश की ओर टकटकी लगाये खडा था। जाने किन प्रश्नो का उत्तर खोजता हुआ। अपने मे लीन। सामने सूर्य की दिनचर्या समाप्ति पर है फिर भी वह निवासस्थान की ओर लौटने मे उत्सुक नही लगता। उसका ही एक साथी लपकता हुआ उसकी ओर बढता जा रहा है। नजदीक पहुचते ही उसके स्वर फूट पडे—

'चित्रागद ! यह एकाएक मौन कैसा ? आज प्रात से ही देख रहा हूँ तुम्हारे मुख पर विपाद छाया हुआ है। मानता हूँ, गुरुकुल के आचार्यप्रवर कश्यप ने तुम्हे शिल्पी-समुदाय का प्रमुख बनाया है। तुम अपनी रग-सयोजन की कला के मर्मज्ञ हो। जब इतिहास के किसी प्रसंग को चित्रित करने लगते हो तो स्वय अनुपस्थित हो जाते हो। किन्तु तुम्हारी मुखरता, विनोद प्रियता भी किसी से छिपी नही है। फिर क्या साल रहा है तुम्हे ? अपने इस सहपाठी से भी छिपाओगे, जो बारह वर्षों से तुम्हारे साथ छाया की तरह रहा है ?'

चित्रागद ने उपत्यका की ऊँची गुफा से अपनी दृष्टि फेरी। सामने रग कर्मी श्रीकण्ठ उसके चेहरे पर दृष्टि साधे खडा था। बचपन का साथी। चित्र-शाला का सहकर्मी। लगता था यदि थोडी देर वह और मौन रहा तो श्रीकण्ठ रो पडेगा। चित्रांगद ने अपना दाया हाथ उसके कंधे पर रख दिया। वह आश्वस्त हुआ। उतना ही उत्सुक। चित्रांगद ने कहना प्रारम्भ किया—

'मित्र श्रीकण्ठ ! प्रश्न मेरे विषाद का नही है। तुम जैसे कलासाधको के बीच मुझे क्या दुख ? किन्तु शिल्पी-समुदाय के प्रमुख का यह पद मेरे व्यक्तित्व को विभाजित किये रहता है। एक ओर सुदूर देशो से आये हुए तुम्हारे सहपाठी कला स्नातको की शिक्षा, व्यवस्था आदि का भार और दूसरी ओर आचार्यप्रवर कश्यप की कला, साधना की सुरक्षा। देखा है तुमने, आचार्य जब सर्जना के क्षणो मे होते हैं, कितने डूब जाते हैं अनुभूतियो मे।

समस्त गुरुकुल भित्तिचित्रो-सा शान्त हो जाता है। तुमने ध्यान दिया होगा, इधर वर्ष पूरा होने को आया, न जाने आचार्य किस साधना मे लगे हुए हैं ? प्रात प्रार्थना के बाद वे उधर गुफाओ की पक्तियों मे उतर जाते हैं और तब लौटते हैं जब हम विश्राम करते होते हैं।'

'तुम्हे भी ज्ञात नही ? हम तो इसलिए निश्चित थे कि आचार्य कश्यप चित्रागद के परामर्श के बिना रग मे कूँची भी नहीं डुबोते। तुम्हे पाकर वे अपनी कल्पना को साकार हुआ मानते हैं।

'मित्र ! यही तो विषाद है। चित्रागद की कला-क्षमता मे आचार्य को इतना अविश्वास क्यो ? और फिर मेरे साथ तो इतने शिल्पी हैं। कुशल स्थपित, रगधर्मी कलाकार, पत्थर मे प्राण फूंकने वाले मूर्तिकार। वे आदेश तो करते और फिर देखते अपने अन्तेवासियो की कला का चमत्कार। किन्तु न जाने आचार्य किस कल्पना मे लीन हैं ? तुम्हीं बताओ, उस आचार्य की खिन्नता हम जैसे कलासाधको को नही सालेगी, जिसने हमे रेखाकन से लेकर रग-संयोजन तक की कला मे पारगत करने मे अपने जीवन के कितने वर्षों का होम किया है ?

'बन्धु ! खिन्न न हो। भूले न हो तो आज प्रकाश पर्व है। दीपमालिका आचार्य प्रवर ने गतवर्ष आज के दिन कितना उत्सव किया था ? कितने प्रफुल्ल थे, उसका कारण तो वे जानें। किन्तु आज फिर सांयकाल की प्रार्थना में वे हम सबके बीच होगे। यह मैं जानता हूँ। क्यो नही, आज हम उनकी वर्ष भर की साधना का रहस्य जानने की उनसे जिज्ञासा करें ? आओ, अ शुमाली अपनी यात्रा के पडाव की ओर अग्रसर हो रहा है, हम भी गुरुकुल की ओर चलें। सहयोगी कलाकार आपकी प्रतीक्षा कर रहे होगे।'

चित्रागद श्रीकण्ठ का हाथ थामे उदयगिरि की उपत्यका से नीचे उतरने लगा। अर्धगव्यूति की दूरी पर स्थित कलासाधको का आवास आज उसे अपरिचित सा लग रहा था। पता नही, घडी-दो घडी बाद वह किन रहस्यो के बीच होगा।

गुरुकुल का विशाल सभागृह। चारो ओर की भित्तियो पर भारतीय इतिहास, धर्म, पुराण-कथा के विभिन्न प्रसगो का चित्राकन इतना मनोहर

म सजीव है कि लगता है आज आचार्य कश्यप को सुनने भी वहा एकत्र हुए है। छत नाना अलकरणो से चित्रित है। सभागृह के स्तम्भो को चिकना करने मे किसी स्थपित ने अपनी कला को उडेल दिया है। चारो कोनो पर एक एक मशाल जल रही है। उसके प्रकाश मे वहां शिल्पी समुदाय के सौ कला-साधक बैठे हैं। जलाशय से शान्त। सामने मच पर आचार्य का आसन लगा है। समीप मे ही एक कलात्मक दीपस्तम्भ स्थित है, जिसमे ज्योति प्रज्वलित कर आचार्य हर वर्ष प्रकाश पर्व का शुभारम्भ करते है। फिर होड-सी लग जाती है कला साधको में दीप प्रज्वलित करने की। वेतवा के किनारे स्थित इस गुरुकुल का कोना-कोना जगमगा उठता है। आचार्य सुनाने लगते हैं प्रकाशपर्व के सम्बन्ध मे अनगिनत कथाएँ, प्रसग न जाने क्या-क्या। उनकी वर्ष भर की अनुभूतिया आज के दिन ही तो प्रकाश मे आती हैं। कला-साधक नई स्फूर्ति से भर जाते हैं और उदयगिरि का कोई एक शिलाखण्ड उनकी कला से फिर सार्थक हो जाता है। किन्तु आज का यह विलम्ब पता नही आचार्य की किस अनुभूति को प्रगट करता है ?

मच के पृष्ठ भाग के द्वारकक्ष का पटह गूंज उठा। आचार्य प्रवेश कर रहे हैं। साथ मे हैं, चित्रागद, श्रीकण्ठ एव कुछ और प्रमुख कलाकार। कला साधको ने उठकर उनका अभिवादन किया। आचार्य कश्यप ने आसन ग्रहण किया। उनकी उपस्थिति मात्र से जैसे सभागृह आलोकित हो उठा हो। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि जिस किसी कलाकार पर पडती वह अपने को धन्य मानता। चित्रांगद को उस दृष्टि मे एक प्यास दिखायी पडी। एक तडप। पता नही आचार्य क्या खोज रहे हैं ? इतनी गहरायी से उन्होने पहले कभी कलाकारो के चेहरे नही नाप। तभी मगल पाठ के उपरान्त आचार्य मुखुर हो उठे—

'कलासाधको ! प्रकाशपर्व आप सबको मगलमय हों। इस ज्योतिपर्व के सम्बन्ध मे न जाने कितने प्रसग मे आप को सुना चुका हूँ। उन्हे आपने रगो के माध्यम से इन गुफाओ मे भी उतारा है। एक से एक बढकर कलाकृतियाँ। किन्तु आज मैं आपको क्या प्रसग सुनाउँ, समझ मे नही पा रहा हूँ। आप स्वतन्त्र हैं, अपनी कल्पना को रग देने मे।'

आचार्य कश्यप इतना कहकर दीप स्तम्भ को प्रज्वलित करने लगे। तभी

एक स्वर उभरा—

'आचार्य, धृष्टता क्षमा करें। सभी कला साधक विनीत हैं। आप के प्रति विश्वास से भरे हुए। किन्तु आपकी यह उपेक्षा अब सह्य नही है। दीपस्तम्भ का प्रकाश हमे कितना मार्गदर्शन करेगा, यदि आपने अपने अन्दर की ज्योति हमे नही बाटी। हमारी कला शक्ति पर अविश्वास न करें गुरुदेव! आप कहे, आप के मन मे क्या प्रसग उमड़ रहा है?'

श्रीकण्ठ हाथ जोडकर खडा हो गया। आचार्य के हाथ की मशाल दीपस्तम्भ तक नही पहुँच पायी। उन्होने दृष्टि फेरी। तभी दूसरा स्वर उभरा—

'गुरुदेव! श्रीकण्ठ ठीक कहता है। अब यह दीपस्तम्भ नही जलेगा, जब तक आप यह प्रगट नही कर देते कि वर्ष भर इन पहाडियो के भीतर आप क्या खोजते रहे? ऐसा कौन-सा प्रसग है, जिसे आप कहने मे संकोच कर रहे हैं? आप न केवल कलाओ के आचार्य हैं, इतिहास, पुराण, धर्म-दर्शन आप की जिह्वाग्र पर है। और फिर आप मे आत्म-ध्यान की वह शक्ति है कि हजारो वर्ष पूर्व की घटनाएँ आप सामने घटित होते हुए देख सकते है। आपने भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध के जीवन के कितने प्रसग हमे सुनाये हैं। वे सब कहा शास्त्रो मे लिखे हैं? सब आपकी अनुभूति से अनुस्यूत हुए हैं। निवेदन है, आचार्य! हमे भी उन क्षणो को जीने दे, जो आप की साधना की उपलब्धि है।'

आचार्य मे चित्रागद के चेहरे को देखा जो जिज्ञासा से भरा हुआ था। शिल्पी-समुदाय पर दृष्टि घुमायी। सभी एकाग्र चित्त हो उन्हे सुनने को आतुर थे। स्वय को रोक पाना अब कठिन था, आचार्य कश्यप मशाल लेकर खडे हो गये। बोले—

'चित्रागद! श्रीकण्ठ! अन्य कलाकारो! मुझे तुम्हारी इसी जिज्ञासा भरी स्थिति की प्रतीक्षा थी। मेरी साधना, आकाक्षा को जानना चाहते हो तो आओ मेरे साथ। उदयगिरि की गुफाओं मे चलें। वही मैं अपनी बात कह पाऊँगा।'

सभागृह के मुख्य द्वार से आचार्य कश्यप मशाल लिए हुए चल दिये।

चित्रांगद श्रीकण्ठ उनके पीछे थे। गुरुकुल के पच्चीस उत्साही कलाकार और उनके पीछे हो लिये। आचार्य प्रमुख गुफाओ को छोडते हुए उस पीछे की पहाडी की तलहटी मे पहुँचे, जिसके ऊपर की गुफा मे एक जैन प्रतिमा खुदी हुई है। पहाडी के प्रवेश द्वार पर आचार्य खडे हो गये। शिल्पी समुदाय के एकत्र होने पर बोले--'आप सभी यह द्वार पहली बार देख रहे होंगे। मेरी यात्रा यही से प्रारम्भ होती है। सब भीतर प्रवेश करें। ध्यान रहे, प्रकाश के लिए यही एक मशाल अपने साथ है, अत: सब साथ-साथ चलें और दीवाल के दोनो ओर देखते चलें।'

प्रवेश करते ही शिल्पियो ने देखा वह गुफा नही, किसी सम्राट् का तहखाना जैसा था। एकदम सपाट भूमि, छत एव दीवालें। दीवालो पर दोनो ओर आमने-सामने एक-एक धनुप के अन्तर से लम्बे-चौडे चित्रफलक टगे हुए थे। शिल्पी आश्चर्य चकित रह गये। जब आचार्य ने उन्हे बताया ये चित्र-फलक नही, गुफा की दीवालो को ही मसाले से इतना चिकना किया गया है कि उन पर चित्रकर्म किया जा सके। एकदम दर्पण जैसा। इस प्रकार १२-१२ भित्तिफलको को देखते हुए शिल्पी सघ जब आगे पहुँचा तो ठिठक गया। सामने एक बडी दीवाल से गुफा समाप्त हो गयी थी। एक दीपक के प्रकाश मे दो कलाकार अभी भी कार्यरत थे। आचार्य उनके पास जाकर खडे हुए। मशाल का प्रकाश पडते ही उन कलाकारो की आकृतिया स्पष्ट हो गयी। एक थी गौरवर्ण, तीखी नासिका एव पकी दाढी वाले किसी वृद्ध कलाकार की आकृति। और दूसरी तरुणाई से पुष्ट एव रूप से सुघढ किसी युवा नारी की आकृति। आचार्य ने शिल्पियो को अधिक चकित होने का अवसर नही दिया। बोले-

'कला-साधको! प्रथम इन से परिचय प्राप्त करें, जिनकी अथक साधना और परिश्रम का परिणाम यह गुफा है। ये हैं अमरावती की चित्रशाला के आचार्य पूर्णकलश, जिन्होने मेरी कल्पना के अनुरूप इस गुफा को चित्रांकन के लिए तैयार किया है। और यह हैं उज्जयिनी की चित्रसभा की स्नातिका सुश्री कनकप्रभा, जिसने चित्रभूमि तैयार करने मे दक्षता प्राप्त की है। उज्जयिनी मे मेघदूत के भित्तिचित्र इसके द्वारा निर्मित चित्रभूमि पर ही बने

हैं। और ये हैं पच्चीस चित्रभूमियां इनकी अद्भुत कला की प्रमाण।'

'सत्य है गुरुदेव! ये चित्रभूमिया इनके नाम को सार्थक करती है। और इनका तारुण्य उस दिन सार्थक होगा, जब ये भित्तिया किसी महापुरुष के प्रसग से अनुप्राणित हो उठेंगी।' किसी वाचाल रगधर्मी का स्वर गूंजा। कुछ शिल्पी मन-ही-मन मुसकाये। चित्रागद ने बात आगे बढायी—

'आचार्य! नवागत कलाकारो का स्वागत है। स्तुत्य है उनकी कला। किन्तु गुरुदेव! इससे हम और उत्सुक हुए हैं, ऐसी कौन-सी कल्पना को आप साकार करना चाहते हैं, जिसके लिए बाहर से कलाकार बुलाने की आपको आवश्यकता पडी? वे धन्य हैं, जो हम से पूर्व आप का मनोरथ जान गये।'

'नही चित्रागद! यह बात नहीं है। इन्हे भी पता नहीं है, मैं इन भित्तियो पर क्या चित्रित देखना चाहता हूँ। किन्तु अब प्रगट कर देना चाहता हूँ अपनी आकाक्षा। चाहे तुम उसे मेरा आदेश मानो या अपनी गुरु-दक्षिणा। सब शान्ति से बैठ जायें और सुनें।'

कनकप्रभा ने आचार्य को बैठने का आसन दिया। मशाल थामकर गुहा के एक कोने मे लगा दी। और स्वय दीपशिखा-सी आचार्य की बायी ओर बैठ गयी। दायी ओर शिल्पी पूर्णकलश, चित्रागद, श्रीकठ एव सामने सभी चित्रकार। आचार्य ने कहना प्रारम्भ किया—

'शिल्पियो! आप देश के कोने-कोने मे आकर यहा एकत्र हुए हैं। नालन्दा, कौसाम्बी, भरहुत, मथुरा, तक्षशिला, मदुरा, उज्जयिनी, अमरावती और न जाने कहा-कहा के कला-केन्द्रो को आपने देखा है। कुछ का स्वय निर्माण किया है। अभी कुछ माह पूर्व सारनाथ, प्रयाग, साची की कलाकृतिया देखकर आप लौटे हैं। रामायण, महाभारत, बौद्धजातक की कथाओ एव राम, कृष्ण, बुद्ध की जीवनियो के कितने प्रसगो के चित्र तुम्हारी कलापारखी दृष्टियों से गुजरे हैं। सौ वर्ष पूर्व के गुप्तकाल का आपने इतिहास पढा है। कला के क्षेत्र मे कितनी उन्नति हुई है। किन्तु भद्र! इन कला-केन्द्रो मे कहीं आपने महावीर का नाम अकित देखा? कही तुम्हे करुणामयी त्रिशला का चित्र दिखायी पडा? देखा है कहीं तुमने सिद्धार्थ के राजकुमार के केशलुंचन

का दृश्य ? उठी है तुम्हारी कूँची कभी उस प्राणीमात्र के प्रति करुणा बरसाने वाले महावीर को चित्रित करने के लिए ? कभी आपने कल्पना की है, उस वर्धमान की तपश्चर्या के जीवन की ? स्वप्न भी आया तुम्हे कभी महासती चन्दनबाला की हर्षमिश्रित उस मुखाकृति का, जब वह महावीर को पारणा करने प्रस्तुत हुई थी ? शायद नही भद्र, नही। मैं पूछता हूँ ऐसा क्यो हुआ ? एक ही समय मे, एक ही प्रदेश मे विचरण करने वाले बुद्ध और महावीर मे से मात्र बुद्ध ही क्यो कलाकारो की दृष्टि मे चढ सके। महावीर क्यो उपेक्षित हुए ? किन्तु विचारता हूं तो दोष कलाकारो का नही, समाज की स्वीकृति का है।'

'क्षमा करें भद्र ! वर्ष भर जिन अनुभूतियो को मैंने जिया आज उन्हे कहने को विवश हूँ। जब से मैंने महावीर के जीवन-प्रसगो से स्वयं को सम्बद्ध करना प्रारम्भ किया तभी से सोच रहा था कि उनकी कथा को स्वय चित्रित करु। किन्तु जब भी चित्रशाला मे बैठा, बहुत द्रवित हो गया हूँ उनकी साधना पर। उनके प्रेम पर। आयुष्मान् ! यह कार्य आप लोग ही कर सकते हैं। चित्रभूमिया मैंने तैयार करा दी हैं। शिल्पी पूर्णकलश, आयुष्मति कनकप्रभा आप की सहयोगी रहेगी। बोलो, कला के इतिहास मे यह नया अध्याय जोड सकेंगे आप ? कौन प्रारम्भ करेगा ?'

'यह गौरव एक अतिथि को दें आचार्य ! मानती हूँ, चित्रालेखन के अभ्यास मे मैं प्रवीणा नही हूँ। किन्तु विश्वास है, महावीर जैसे युगपुरुष का कथानक चित्रित करते समय मेरी कूची थकेगी नही।' अभ्यर्थना मे कनक प्रभा ने हाथ जोड दिये।

आचार्य कश्यप जब तक कनकप्रभा को अपनी अनुमति प्रदान करें उसके पूर्व ही चित्रागद बोल उठा--'गुरुदेव ! अतिथि कलाकार की इच्छा अवश्य पूरी की जाय। साथ ही हम लोगो को भी इस महायज्ञ मे अपनी-अपनी कला की आहूति देने का अवसर दिया जाय।'

'भद्र ! अवश्य ही सबको अवसर मिलेगा। महावीर की कथा ही ऐसी है, जिसे विभिन्न चित्तो वाली प्रतिभाएँ ही पुरा कर सकती हैं। आप सबका स्वागत है।'

'आचार्य ! एक मेरा निवेदन भी है। इससे पूर्व कि हम मे से कोई अपनी कूंची उठाए, आप हमें भगवान महावीर की सम्पूर्ण कथा सुनायें गुरुदेव ! उनकी परम्परा की, उनके जन्म की, शैशव की, उनकी प्रव्रज्या की, तपश्चर्या की। और आचार्य ! उन प्रसगो की, जिनके साक्षी होकर अनेक आत्माओ ने अपना कल्याण कर लिया है।'

आचार्य कश्यप ने सहर्ष श्रीकठ की ओर देखा । वे और अधिक विश्वस्त हुए। बोले—'श्रीकठ ! तुम सबके उत्साह ने मुझे आश्वस्त कर दिया है। मेरा स्वप्न अवश्य पूरा होगा। महावीर की पूरी कथा सुनाऊँगा तुम्हे। पूरे प्रसग। उनकी सम्पूर्ण देशना समझाऊँगा। ताकि उस वातावरण में डूबकर तुम उसे चित्रित कर सको। किन्तु भद्र ! मेरी एक बात याद रखना। तुमने शास्त्र पढे हैं। पिटको का अध्ययन किया है। आगमो मे तुम्हारी गति है। यदि मेरी किसी बात का आगमो से मेल न हो, सूक्ष्म या विस्तार से कह दी गयी हो, अर्थ नया लगे तो मेरे प्रति सदिग्ध न होना।

महावीर जिस रूप मे तुम्हारे चित्त मे अकित हो सके उसे ही कला में उतारना। वह तुम चितेरो का महावीर होगा। यदि कोई बात तुम्हारे मन को मथे तो अवश्य मुझसे पूछना। अच्छा, अब सब जाकर विश्राम करे। रात्रि अधिक हो गयी है। प्रभात मे यहीं एकत्र हों तब कथा प्रारम्भ करूँगा।'

००

२. परम्परा

प्रभातवेला मे उदयगिरी की उस गुफा मे जब सघ एकत्र हुआ तो सभी उल्लास से भरे थे। अचार्य कश्यप आसन पर बैठे हुए ऐसे लग रहे थे मानो स्वर्ण कमल उग आया हो। कलाकारो की भाव भगिमाए दर्पण सदृश थी। अचार्य जो बोलें उसे ग्रहण कर लिया जाय। श्वेतवस्त्रा कनकप्रभा निर्मल आत्मा का प्रतीक बनी बैठी थी। गुफा मे दिनकर की किरणो के प्रवेश के साथ ही अचार्य का स्वर गूज उठा—

'वत्स ! भगवान महावीर के जन्म की कथा के पूर्व आपको उनकी परम्परा का परिचय देना चाहूगा। भारतीय इतिहास मे अब तक दो परम्पराए विकसित हुई हैं। वैदिक और श्रमण परम्परा। वैदिक परम्परा से ब्राह्मण धर्म अनुस्यूत हुआ एव श्रमण परम्परा से जैनधर्म और बौद्धधर्म। जिसे अब हम जैनधर्म के नाम से जानते हैं, उसका इतिहास बहुत पुराना है। इसमे २४ तीर्थङ्कर क्रमश हुए हैं। महावीर के पूर्व २३ तीर्थङ्करो ने जैनधर्म की स्थापना एव प्रचार किया था। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की थी कि मनुष्य अपनी आत्म-शक्ति का विकास कर परमात्मा की अवस्था को प्राप्त कर सकता है तथा आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने का साधन अहिंसा और सत्य से साक्षात्कार करना है।

धर्म के इन मूल तत्वो के निरूपण मे एक तीर्थङ्कर से दूसरे तीर्थङ्कर का कोई भेद नही रहा। न कभी रहेगा। प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने-अपने समय मे देशकाल, जनमानस की प्रकृति, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान मे रखते हुए साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका के लिए अपनी-अपनी एक नवीन आचार-सहिता का निर्माण करते हैं। धर्म के आचरण मे जो विकृतिया भ्रातिया आ जाती है उनका वे परिष्कार करते हैं। आप महावीर के व्यक्तित्व का सही मूल्याकन कर सकें, उनसे सम्बद्ध घटनाओ के

पीछे छिपे सत्य को पकड सके इसके लिए आवश्यक है, उनके पूर्व के तीर्थङ्करों के जीवनक्रम की भी जानकारी आपको हो। उस विचारधारा से आप गुजरें, जिसे महावीर ने विकसित किया है।'

आचार्य कश्यप विराम के लिए थोडी देर रुके। कलाकारो के चेहरो पर वही उत्सुकता थी, वही उल्लास, उन्होने कथासूत्र को आगे बढाया—

श्रमण परम्परा के आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव थे। वे ऐसे समय मे हुए जहा से मानव का इतिहास प्रारम्भ होता है। अतः वे प्रागार्य हैं। वेदपूर्व हैं। जैन पुराणो के अतिरिक्त ऋग्वेद एव अन्य वैदिक साहित्य मे उनके चरित का बखान है। ऋषभदेव की प्रतिष्ठा केवल इसलिए नहीं है कि उन्होने आदि मानव का जीना सिखाया, भाषा दी तथा कृषि, मसि आदि उपयोगी कलाओ मे निष्णात किया, अपितु वे इसलिए दोनो धार्मिक परम्पराओ मे स्मरण किये गये कि उन्होने धार्मिक अन्तर्विरोधो को रचनात्मक मोड दिया। अहिंसा के तत्वचिन्तन द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठापित किया तथा भेद-विज्ञान के दर्शन द्वारा जगत् की सत्यता को उजागर किया। प्राचीन ग्रन्थो मे उन्हे 'योगी', 'केशी', 'आदिनाथ' 'हिरण्यगर्भ' 'ब्रह्मा' आदि अनेक नाम दिये गये हैं, जो ऋषभदेव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के द्योतक हैं। मनुष्य को भोग से पुरुषार्थ और कर्म की ओर आकर्षित करने में इस आदि तीर्थङ्कर का अपूर्व योगदान है।

भगवान ऋषभदेव आध्यात्मिक चिन्तन की निधि को इतना सार्वजनिक कर गये थे कि उनके बाद के कुछ तीर्थङ्करो को कोई अधिक प्रयत्न नही करना पडा। २०वें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत के समय तक सम्भवतः देशकाल की ऐसी परिस्थितिया रही कि इतिहास अधिक घटनाए एकत्र नहीं कर सका। इस बीच के तीर्थङ्करो को वही ज्ञान प्राप्त हुआ, वे ही शक्तिया उनमे जागृत हुई, जैनधर्म के वही सिद्धान्त गतिशील रहे, किन्तु उनके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी। धीरे-धीरे मानव की बुद्धि, आचरण एव ग्रहणशीलता मे परिवर्तन हुआ। जगत् मे वे घटनाए घटने लगी कि धार्मिक शिक्षकों को पुनः अपने अर्जित ज्ञान और अनुभव को अभिव्यक्ति देनी पड़ी। अत श्रमण परम्परा के अतिम चार तीर्थङ्करो के सम्बन्ध मे इतिहास पुन.

सक्रिय हो उठा । भगवान महावीर के समय तक जैनधर्म जिस रूप मे प्रगट हुआ वह इन चार तीर्थङ्करो के क्रमश. प्रयत्नो का फल था । महावीर के योगदान को समझने के लिए इन तीर्थङ्करो के जीवन को भी आंकना पड़ेगा ।'

'आयुष्मति कनकप्रभा ! जागृत तो हो ?'

'आचार्यप्रवर ! शयन तो मै उसी दिन त्याग आयी थी जब उज्जयिनी से चली थी । अब तो आखे इसलिए बन्द है कि उस सम्पूर्ण इतिहास को भीतर घटता हुआ देख सकू, जिसे खुली आंखो चित्रित करना है । आचार्य ! आप तो कहना प्रारम्भ रखें । देख रहे है, शिल्पी-समुदाय चातक-सा प्रतीक्षित है कथा के प्रति ?

'भद्र चित्रागद ! २१वे तीर्थङ्कर नमिनाथ मिथिला के राजा थे । हिन्दू-पौराणिक परम्परा मे उन्हे राजा जनक का पूर्वज कहा गया है । 'अनासक्ति योग के वेपुरस्कर्त्ता थे । उनकी यही वृत्ति राजा जनक को विरासत मे मिली । सम्भवत: इसी आध्यात्मिक दाय के कारण उनका सारा वश और राज्य 'विदेह' नाम से प्रचलित हुआ । उनके युग मे अहिंसा का इतना व्यापक प्रचार और परिष्कार हुआ था कि जनक तक आते-आते धनुष से प्रत्यचा उतर गयी थी - । भगवान राम का धनुष चढाकर सीता को व्याहना शौर्य और पुरुषार्थ का आह्वान करना था । नमिनाथ आत्म-चिन्तन, निष्काम कर्म और अनासक्ति भावना के प्रकाशन के 'लिए हमेशा स्मरण किये जायेंगे ।

राजा जनक के समय मे धनुष पर जो प्रत्यचा चढी तो उसके अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनो तरह के परिणाम हुए । समाज की रक्षा, शील की प्रतिष्ठा एव सद्वृत्तियो के विकास के लिए जहा क्षत्रियो ने शौर्य प्रदर्शन किया, वहा धनुष का उपयोग मृगया के लिए भी बढ़ गया । मांसाहार की प्रवृत्ति बढने लगी । इसका उदाहरण देखने को मिला २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समय मे । महाभारत के युग मे । नेमिनाथ यदुवशी थे । भगवान कृष्ण उनके चचेरे भाई थे । नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर के राजा उग्रसेन की विदुषी कन्या राजुलमती से होना निश्चित हुआ था, किन्तु बारात के भोजन निमित्त एकत्र पशुओ की चीत्कार सुन नेमिनाथ ससार का परित्याग कर तपोवन मे चले

गये। राजुलमती ने उनका अनुगमन किया। हिंसा एवं मांसाहार की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन सामान्य का ध्यान आकर्षित करने एव अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से नेमिनाथ ने जो पद्धति अपनाई वह अद्भुत थी। साथ ही उन्होने अहिमा की परिधि मे पशु-पक्षी जैसे सामान्य जीवो के हितो को भी सम्मिलित कर लिया था। अत करुणा मूलक जीवन-दृष्टि को विकसित करने मे नेमिनाथ ने विशेप प्रयत्न किया।

२३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म ई पू आठवीं शताब्दी (७७७ वर्ष) मे हुआ था। महावीर से कुल २५० वर्ष पूर्व। श्रमण परम्परा पर पार्श्वनाथ का गहरा प्रभाव पडा। क्योकि इन्होने परम्परागत जैनधर्म की व्यवस्था मे कई परिवर्तन किये। इनके पूर्व जन्मो की कथाओ मे इनके व्यक्तित्व को क्षमा-शीलता का प्रतिष्ठापक कहा गया है। इनके तीर्थङ्कर जीवन मे कमठ नामक पूर्ववैरी ने जितने भी उपसर्ग किये वे निरर्थक हुए। क्योकि पार्श्वनाथ क्षमा के सागर थे। अहिंसा के प्रचारक होने के कारण इन्होने एक वार नाग-नागिनी के जोडे को अग्नि मे जलने से वचाया था। फलस्वरूप नागफन की छाया इनकी मूर्ति के साथ अभिन्न हो गयी। पार्श्वनाथ कठोर तपश्चर्या के लिए प्रसिद्ध है। उनके जीवन मे पूर्व तीर्थङ्करो के समस्त गुण एवं क्षमताएँ एकत्र हो गयी थी। ऋषभदेव का योग, नमिनाथ की अनासक्ति और नेमिनाथ की करुणा प्रधान अहिंसावृत्ति पार्श्वनाथ मे साकार हो उठी थी। पार्श्वनाथ ने धर्म प्रचार हेतु चतुर्विध सघ की भी स्थापना की थी, जिसके अनुयायी महावीर के समय तक अधिक सख्या मे विद्यमान थे। स्वय वुद्ध पार्श्वनाथ की परम्परा मे दीक्षित हुए थे। पार्श्वनाथ ने जिस चातुर्याम धर्म का प्रवर्तन किया था, उसका विकास अहिंसा, सत्य, अस्तेय एव अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तो के रूप मे हुआ है।

इस प्रकार ऋषभदेव से पार्श्वनाथ तक की जो परम्परा है, वह पर्याप्त कारण है महावीर जैसे व्यक्तित्व को जन्म देने मे। पार्श्वनाथ के समय मे ही आध्यात्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे विचार स्वातन्त्र्य के वीज वपन हो गये थे, जिनका प्रस्फुटन महावीर के युग मे हुआ। वे सारी क्या परिस्थितिया थीं, क्या कारण थे, कैसा वातावरण था,

जिसमे महावीर को हर तरह की क्रान्ति करनी पडी तथा उस जैसे व्यक्तित्व को तीव्रता से जगत् मे अनुभव किया गया, इस सबके सम्बन्ध मे मैं रात्रि मे विस्तार से बतलाऊँगा। अभी मुझे विराम की आज्ञा दें। और आप लोग भी उस मानस को तैयार कर पुन यहा आयें, जिसमे महावीर को सुना जा सके।'

क्षणभर बाद कलाकार विसर्जित हो गये। रह गयी गुहा की वे अचित्रित भित्तिया, जिनमे आचार्य कश्यप की दृष्टि को महावीर का सम्पूर्ण जीवन घटित होता हुआ दिखता है।

००

३. पूर्वरंग

वेतवा के इस पार विदिशा नगरी की अट्टालिकाएँ वातायनो के प्रकाश से दीपस्तम्भ-सी दिख रही थी। उस पार उदयगिरि की एक गुफा मशालो के प्रकाश मे एक प्राचीन प्रकाश को समेटने आतुर थी। उसकी छत्रछाया मे बैठे थे आचार्य कश्यप एव वे चितेरे, जिन्होने महावीर के व्यक्तित्व को अपनी कला समर्पित करने का प्रण किया है। सुश्री कनकप्रभा ने वृद्ध कलाकार पूर्णकलश के साथ गुहा मे प्रवेश किया। इनके आसन ग्रहण करते ही आचार्य ने कथा सूत्र सम्हाला—

'कलाकार बन्धुओ! मध्यान्ह मैंने महावीर के पूर्व की परम्परा की बात की थी। महावीर के युग मे उसकी क्या स्थिति थी, इसे स्पष्ट करना होगा। मैंने आप लोगो ने अध्ययन द्वारा यह जाना है कि महावीर का युग उथल-पुथल का युग था। समाज, धर्म, राजनीति हर क्षेत्र मे विकृतिया थीं। अशान्ति थी। आक्रोश था। इन सब परिस्थितियो ने महावीर या बुद्ध को जन्म दिया। शास्त्र आपने यही कहते हैं। मेरी सवेदना इस कथन से नहीं जुड पाती। हिंसा की स्थिति अहिंसक को जन्म दे, अशान्ति का वातावरण शान्ति के उद्घोषक को पैदा करे, शोषण की किरणो मे निस्पृही, अपरिग्रही व्यक्तित्व प्रस्फुटित हो तथा मत-मतान्तरो एव आग्रही विचारको के जलाशय मे अनेकान्तवाद का समन्वयी कमल खिले, यह सब कैसे सम्भव है? महावीर के प्रति हमारी श्रद्धा ने इन सब परिस्थितियों को पैदा किया है। महावीर मे जितने गुणो का विकास हुआ, ठीक उनके विपरीत-बुराईयो का भी अस्तित्व हमे उस युग मे दिखायी पडा। और इन सात्विक एव अच्छाई के परमाणुओं पर पर्दा पड गया, जिनके घनीभूत हो जाने पर महावीर जैसे व्यक्तित्व को पैदा होना पडा है। अतः उस युग की बुराईयों की प्रतिक्रिया स्वरूप महावीर पैदा नहीं हुए। वे सद्गुणियों के विकास के परिणाम थे।

तुम्हें याद होगा, मैंने कभी कहा था–तीर्थङ्कर अवतार नही होते। जीव को पूर्वभवो की लम्बी साधना, आत्मा की क्रमश निर्मलता तीर्थङ्कर की स्थिति तक लाती है। आगम ग्रन्थो मे महावीर के पूर्वभवो की लम्बी शृखला है, जिससे यह और अधिक स्पष्ट होता है कि महावीर का जन्म कितनी अच्छाईयो के सचय का परिणाम है।

उत्तर भारत की भूमि मे ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे २३ तीर्थङ्करो, राम, कृष्ण एव अनेक अज्ञात महापुरुषो के सद्गुणो के सचित परमाणु इतने अधिक सक्रिय हो गये थे कि जिनका विस्फोट एक ही समय मे अनेक महापुरुषो के रूप मे हुआ। महावीर, बुद्ध, गोशाल, अजित, सजय पूर्णकश्यप आदि विचारक आदि एक ही शृखला की कडी थे। उनके व्यक्तित्व और प्रभाव की भिन्नता पूर्वसचित सद्गुणो की न्यूनाधिकता का परिणाम है।'

'आयुष्मति कनकप्रभा ! कही मन तर्क करना चाहे तो संकोच न करना ?'

'आचार्य ! आपसे क्या छिपा है ? मैंने सुना है, महावीर के ही युग मे सुदूर देशो मे भी कई विचारक पैदा हुए थे। चीन मे लाओत्से और काग-फ्यूत्सी, यूनान मे पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान मे जरथुष्ट, फिलिस्तीन मे जिरेमिया और इर्जाकेल आदि। गुरुदेव ! सद्गुणो के विस्फोट का इनसे भी कोई सम्बन्ध है क्या ?'

'आयुष्मति ! तुम्हारी नगरी के सार्थवाहो की विदेश यात्रा तुम्हारे इस कथन से सार्थक हुई। तुम्हारा प्रश्न महत्वपूर्ण है। चिश्रागद ! आप सबने पढा होगा, २४ तीर्थङ्करो की जन्मभूमि उत्तरी भारत के विभिन्न नगरो मे ही है। प्राय: सभी की माताओ को एक-से स्वप्न दिखायी पडते हैं तथा सभी का जन्म क्षत्रिय कुल मे ही हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि महापुरुषो के जन्म के लिए देश का एक निश्चित भूभाग आकर्षित करता है, मा की एक विशिष्ट चित्तभूमि आवश्यक है तथा पौरुष और उदारता की अभिव्यक्ति के लिए एक वंश-परम्परा की अपेक्षा है।'

इसी प्रकार महापुरुषो के जन्म के लिए एक विशेष समय भी धीरे धीरे निर्धारित होता रहता है, जब अध्यात्म के तल पर ऐसी आत्माओ का

शृंखलाबद्ध स्फोट होता है। अत महावीर के समय मे सारे जगत् में यदि विचारक पैदा हुए तो कोई अनहोनी नही है। बल्कि प्रमाण है इस बात का कि महावीर के अन्य गुणो का भी उस समय विकेन्द्रीकरण हुआ होगा, जिसका मानव, पशु एव पक्षी जगत् मे कोई भी जीव धारक हो सकता है।'

महावीर युग के वातावरण के सम्बन्ध मे एक-दो बातो को कहकर इस प्रसग को समाप्त करूगा। तत्कालीन धार्मिक जीवन की जटिलता, अन्ध विश्वास, एकाधिकार आदि अतियो से जन सामान्य मे पर्याप्त असतोष था। आस्तिकवाद अपनी चरम सीमा पर पहुच रहा था। हर बात प्राचीन ग्रथो के आधार पर उचित सिद्ध की जाने लगी थी। विचारो मे रुकावट आ गयी थी। अत यह उस धार्मिक एव दार्शनिक वातावरण की माग थी कि कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित हो जो इन परम्परागत रूढियो को चुनोती दे सके। तर्क एव विचार के प्रभाव को गति दे सके। महावीर ने इस माग की पूर्ति की।

दूसरी ओर, समाज-व्यवस्था ब्राह्मणो के हाथ मे चली गयी थी। व्यक्ति का स्वातन्त्र्य लुप्त हो रहा था। अकर्मण्यता एव भाग्यवादिता का विस्तार हो रहा था। स्त्री की सामाजिक स्थिति भयावह होती जा रही थी। मनुष्यता धूमिल हो चुकी थी। ऐसी स्थिति मे किसी ऐसे युग प्रवर्तक की आवश्यकता थी जो सर्वत्र व्याप्त इस अशान्ति और अराजकता को तिरोहित कर सके। महावीर वही प्रकाश लेकर उपस्थित हुए।

किन्तु एक बात यह समझ लें। महावीर ने अपने युग की धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक अव्यवस्था व अशान्ति को दूर करने का कोई प्रयत्न नही किया। न उनका यह उद्देश्य था। यदि उन्हे मात्र यही करना था तो महावीर का व्यक्तित्व बहुत छोटा हो जायेगा। यथार्थ मे महावीर अन्धकार मे नही लडे। उन्होंने केवल प्रकाश प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अपनी आत्मा को उस स्थिति तक पहुँचाया, जहा ये सासारिक व्यवधान स्वमेव तिरोहित, हो जाते हैं। सूरज मात्र प्रकाशित होता है, वह कब देखता है कि लोगो ने धूप का क्या किया? महावीर की वीतरागता इसी मे सार्थक है कि वे कुछ हो गये, उन्होने कुछ किया नही।

महावीर की यह उपलब्धि तत्कालीन युग मे एक मगल प्रभात के रूप मे

प्रगट हुई, जिससे मानवता के अनेक कमल प्रफुल्लित हो गये। यही कारण है कि तत्कालीन जैनधर्म किसी जाति या वर्ग विशेष का धर्म नही था, बल्कि उनका था जो प्राणिमात्र के हितो और अधिकारो के प्रति सचेष्ट थे। इस खुले आमन्त्रण की अनेक निष्पत्तिया हुई। वर्गविहीन समाज का जन्म हुआ। लोकभाषाओ को प्रतिष्ठा मिली। धर्म का एकाधिकार समाप्त हुआ। और चारो ओर निर्मलता का वातावरण बन गया।'

४. जन्म

'भद्र ! आप सब महावीर के जन्म की कथा सुनने को वडे उत्सुक हैं, उतना ही मैं कहने के लिए आतुर। किन्तु आप उनके जन्मोत्सव मे स्वय सम्मिलित हो सकें, वचपन की। घटनाओ के साक्षी वनें, इसके लिए आवश्यक है, महावीर के सम्वन्ध मे जितनी घटनाए आज तक आपने पढ़ी या परम्परा से सुनी है उन्हे पकड़कर मत वैठना। क्योकि तीर्थङ्करो के साथ घटनाए नही घटती। घटनाओ का क्रम वे अपने पूर्वभवो मे पूरा करके आते हैं। तीर्थङ्कर जीवन मे तो वे सुगन्ध की तरह महकते हैं। यह वात अलग है कि उस सुवास के साथ कितने प्राणी अपने को जोड लें और वे उनके जीवन के महत्वपूर्ण क्षण वन जायें। महावीर के गर्भ मे आने से लेकर उनके जन्म, बचपन एव युवावस्था तक जिन घटनाओ, प्रसङ्गो को इतिहास मे सजोया है मैं उन सबको कहूगा और कहूगा वह भी जो उनके पीछे अकथित है। प्रतीक है। सत्य है।'

'ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे वैशाली विदेह देश की एक प्रसिद्ध और समृद्ध नगरी थी। वहा के निवासियो का आचरण अनुकरणीय था, रूप दर्शनीय। नगर के भवनो एव चतुष्टको की शोभा अतुलनीय थी। हैहय वश के राजा चेटक की छत्र-छाया मे वैशाली फल-फूल रही थी। वैशाली के पश्चिम परिसर मे गण्डकी नदी वहती थी। उसके पश्चिम तट पर स्थित ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, कर्मारग्राम एव कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुल समृद्धि से वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे। क्षत्रियकुण्डपुर मे लगभग पाच सौ घर ज्ञात-क्षत्रियो के थे, जिनके नायक का नाम सिद्धार्थ था। गणतन्त्रात्मक राज्य होने से सिद्धार्थ अपनी प्रजा मे सर्वाधिक शान्तिप्रिय एव लोकप्रिय राजा थे। वैशाली एव इस क्षत्रियकुण्डपुर के राजवशो मे घनिष्ठ सम्वन्ध था।

'राजा चेटक की पुत्री त्रिशला राजा सिद्धार्थ को व्याही थीं। सिद्धार्थ और

त्रिशला का दाम्पत्य दूसरो के लिए आदर्श था। त्रिशला स्वभाव से कोमल थी, हृदय से उदार। बोलती तो सुनने वाला मुग्ध रह जाता। अपने इसी आकर्षक और मृदुल व्यक्तित्व के कारण वे सबको प्रिय थी। उन्हे सब प्यारे थे। उनका दूसरा नाम 'प्रियकारिणी' सार्थक था। वे उस पूर्व दिशा की भाति थी, जहा से एक आत्मजयी सूर्य को उदित होना था। राजा सिद्धार्थ का पितृत्व सफल होना था। पति-पत्नी दोनो ही राजसी वैभव के बीच रहते हुए अपना अधिकाश समय धार्मिक अनुष्ठानो एवं आत्मध्यान मे व्यतीत करते थे। पार्श्वनाथ की-श्रमण-परम्परा के वे अनुयायी थे। अत राजा होते हुए भी सिद्धार्थ ज्ञानी एव अनेक कलाओ के मर्मज्ञ थे।'

महावीर जैसी महान् आत्माए किसी विशेष चित्तदशा मे ही गर्भ मे आती है। अत: एक रात्रि मे जब त्रिशला अपने शयनागार मे निद्रालीन थी तो रात्रि के पिछले पहर मे वे सुहावने स्वप्नो की शृ खला मे खो गयी। उन्होने देखा कि उनके समक्ष मद मे झूमता हुआ एक हाथी, उ चे कधो वाला शुभ्र बैल, कमल के सिहासन पर बैठी लक्ष्मी, दो सुगन्धित मालाए, नक्षत्रो से घिरा हुआ चन्द्र, प्राची मे भासमान सूर्य, कमल के पत्रो से ढके दो स्वर्ण-कलश, जलाशय मे क्रीडारत मछलिया, स्वच्छ जल से भरपूर जलाशय, उमडता हुआ समुद्र, मणि-खचित सिहासन, रत्नो से प्रकाशित विमान, धरणेन्द्र का उतग विशाल भवन, रत्नो की राशि और प्रज्वलित अग्नि उपस्थित है। इन सब की शोभा उन्हें अच्छी लग रही है। तभी उनकी नीद खुल गयी।

रानी त्रिशला को ऐसे स्वप्न कभी नही दिखायी पडे थे। अतः वे विचार करने लगी—इन स्वप्नो को देखने का क्या अर्थ है? उनका मन प्रसन्न था। चित्त मे ऐसे लग रहा था, जैसे उन्होने कोई बडी निधि पा ली है। स्वप्नो की मागलिकता और सार्थकता के प्रति वे निश्चित थी। फिर भी कुतूहल तो था ही। प्रात अपने पति सिद्धार्थ से इन स्वप्नो का अर्थ पूछने का निर्णय कर रात्रि का शेष समय व्यतीत किया।

प्रातः काल के कार्यों से निवृत्त हो रानी प्रियकारिणी राजा सिद्धार्थ के समीप पहुँची। राजा ने उनका प्रफुल्ल मन से यथोचित सत्कार किया। त्रिशला के कुतूहल भरे मुखमण्डल से सिद्धार्थ समझ गये कि यह कुछ जिज्ञासा शान्त

करने आयी है। फिर भी उन्होने इतने सबेरे आने का कारण पूछ लिया।'

रानी त्रिशला ने विनयपूर्वक क्रमशः अपने स्वप्नो को कह सुनाया और उनके फलितार्थ जानने की उत्कठा व्यक्त की। राजा सिद्धार्थ स्वप्न-विज्ञान के जानकार थे। जैसे-जैसे वे स्वप्न सुनते जा रहे थे वैसे-वैसे आनन्द से भर रहे थे। रानी का कथन समाप्त होते ही बोल पडे—'प्रियकारिणी! हम बहुत भाग्यशाली हैं। हमारे इस कुल मे एक महान् विभूति जन्म लेने वाली है। त्रिशले! तुम उस ज्योतिशिखा की मा बनोगी। तुम्हे बधाई।'

'वह पुत्र कैसा होगा सो यह स्वप्नो की शृ खला बखान करती है कि हाथी उसकी महानता का प्रतीक है। वृषभ उसके धर्म प्रवर्तक होने का उद्घोपक। वह अपार ऊर्जा और पराक्रम का धारक होगा यह सिंह दर्शन का फल है। लक्ष्मी-दर्शन सम्पत्ति व वैभव के प्रति उसके निस्प्रही भाव को प्रगट करता है तथा मालाए उसकी कान्तिमान सुरभित देह की सूचक हैं। चन्द्र और सूर्य इस बात के सकेत हैं कि बालक सहिष्णु, धीर, गम्भीर और तेजस्वी होगा। ससार को अपनी ज्ञान-प्रभा से आलोकित करेगा। स्वर्ण-कलश उसकी करुणा की पताकाए हैं। मछलियो का युग्म अनन्त सौख्य की उपलब्धि का सूचक है। उसकी गहन सवेदना का प्रतीक है जलाशय और विशालता का परिचायक है समुद्र। सिंहासन से शिशु की प्रभुता एव देवविमान और धरणेन्द्र भवन मे उसकी यश गरिमा का पता चलता है। रत्नो की राशि उसके अनगिनत गुणो की सूचक है तथा निर्धूम अग्नि उसकी निर्मलता का प्रतीक है। मुक्ति प्राप्ति का सकेत।'

यह सब सुनते हुए रानी त्रिशला जैसे सोते से जगी हो। बोली—'स्वामी! इतनी महान् आत्मा को मैं धारण कर सकूगी? कितना विलक्षण होगा वह बालक?'

सिद्धार्थ उसकी वत्सलता देख मुस्करा पडे—प्रियकारिणी! नारी का यही योगदान तो अपूर्व है। इसी से उसकी कोख की सार्थकता है। और फिर तुम किस बात मे कम हो। तुम्हारे रूप, शील एव सद्व्यवहार का गौरव इस सम्पूर्ण वैशाली जनपद को है। ज्ञातृवश मे इस विभूति को जन्म देकर तुम इसका मस्तक ऊचा कर दोगी।'

'रानी त्रिशला नारी सुलभ लज्जा से जितनी रक्ताभ हुई उतनी ही उस भाग्यशाली क्षरण के प्रति उत्कठित। वे उठकर अ त पुर की ओर चली गयी। सिद्धार्थ प्रमुदित चित्त से दैनिक कार्यों मे व्यस्त हो गये।'

आचार्य कश्यप विराम के लिए क्षरण भर रुके। तभी गुफा में एक प्रश्न गू ज उठा—

'आचार्यप्रवर! किसी जैनागम मैंने यह पढा है कि महावीर पहले देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ मे आये। चू कि तीर्थङ्कर क्षत्रिय कुल मे ही जन्म लेते हैं अत देवताओ ने उन्हे त्रिशला के गर्भ मे स्थानान्तरित कर दिया। गुरुदेव! मैं इस घटना के घटित होने के प्रति आग्रही नही हू। किन्तु यह जानना चाहता हू इसके पीछे क्या सत्य छिपा है?'

'भद्र चित्रागद! तुम्हारा कथन सत्य है। जिज्ञासा महत्वपूर्ण। तुमने रामायरण, महाभारत पढे हैं। पुराणो का अध्ययन किया है। जानते हो वहाँ कितने साहित्यिक प्रतीको का प्रयोग हुआ है। गर्भ हरण की घटना का उल्लेख भी एक महत्वपूर्ण प्रतीक है। प्राचीन काल से भारतीय धर्म-दर्शन ब्राह्मणो के हाथो मे रहा है। ब्राह्मण धर्म के अनेक ऋषि-मुनियो ने अपूर्व साधना कर मुक्ति प्राप्त की है। किन्तु महावीर का जो युग था उस समय तक आते-आते ब्राह्मण धर्म की वह धारा प्रायः सूखने लगी थी, जिसका शुद्ध आध्यात्म से सम्बन्ध था और जो धारा उस धर्म की उफन रही थी उसका गन्तव्य ससार से स्वय मुक्ति पाना नहीं रह गया था। ब्राह्मण धर्म ने पुरुषार्थ के स्थान पर अब समर्पण का रास्ता अपना लिया था। उसकी मुक्ति किसी दूसरे पर निर्भर हो गयी थी। ऐसी स्थिति मे उस परम्परा मे कोई ऐसा महापुरुष कैसे जन्म ले सकता था जो स्वय इस ससार को जीतना चाहता हो तथा जिसे अपना मार्ग स्वय बनाना था। उसका जन्म क्षत्रिय कुल एव किसी वीरागना की कुक्षी से ही सम्भव था। वही हुआ भी। अत गर्भहरण की घटना तत्कालीन ब्राह्मण क्षत्रिय सघर्ष की कथा है। पुरुषार्थ और समर्पण वाले आध्यात्मिक मार्गों की वर्चस्वता एव निष्फलता की प्रतीक। महावीर का व्यक्तित्व इस प्रकार के प्रतीको से और अधिक निखरता है।'

आचार्य ने सुश्री कनकप्रभा की ओर देखा। वह कानो से ही नही आखो

से भी कथा को श्रवण कर रही हो ऐसी लग रही थी। अन्य कलाकार भी कुतुहल एवं उल्लास से भरे थे। आचार्य कश्यप ने पुन कथा सूत्र सम्हाला—

'कहा जाता है कि आषाढ शुक्ला ६(ई. पू ६००) की उस सुनहरे स्वप्नो की रात से राजा सिद्धार्थ का राजभवन देवताओ द्वारा किये जाने वाले उत्सवो के लिए रगमच वन गया था। नगरनिवासी ऐसे अलौकिक कार्यों का अवलोकन कर रहे थे जो आज तक नही हुए थे। चारो ओर आनन्द छा गया था। खेत हरी-हरी फसलो से लहरा उठे थे। पशु-पक्षियो ने परस्पर के वैर भुला दिये थे। मनुष्यो मे भाईचारे और नम्रता का व्यवहार अधिक वढ गया था। और सवसे वड़ी वात यह कि रानी त्रिशला एक अलौकिक दीप्ति से भर उठी थीं। देवीतुल्य उनकी दासिया दिन-रात उनकी सेवा मे उपस्थित रहने लगी। नाना प्रकार के मनोरजन से प्रियकारिणी का मन वहलाया जाने लगा राजा सिद्धार्थ ने रानी की किसी भी कामना को पूरी करने मे कोई कमी नही रखी। इस प्रकार वैशाली के आस-पास का सारा वातावरण उस परम ज्योति के प्रगट होने की प्रतीक्षा मे रत हो गया था।'

रानी त्रिशला ने चैत्रशुक्ला त्रयोदशी (ई पू ५९९) की मध्यरात्रि मे जैसे ही पुत्ररत्न को जन्म दिया यह समाचार पवन की भाति सारे वैशाली जनपद मे व्याप्त हो गया। जिसने भी सुना दूसरे को सुनाने दौड पडा। रात्रि का अतिम प्रहर प्रात काल की भाति जनसमूह के उल्लास से जागृत हो उठा। ऐसा लग रहा था कि अज्ञान की रात्रि जा रही है। ज्ञान का सूर्य उदित हो गया है। उस भव्य मगलवेला मे राजा सिद्धार्थ का सम्पूर्ण राजभवन जैसे किसी पर्व मे ही सम्मिलित हो गया हो। सिद्धार्थ के आनन्द की तो वात ही मत पूछो। जो परिचारिका यह सुखद संवाद लेकर आयी थी उसका मुख सचमुच ही उन्होने मोतियो से भर दिया। उसके वाद जो आभूषण हाथ आया उसे वे लुटाते चले गये। वे गर्व से फूले न समा रहे थे कि आज उनका ज्ञातृ वश नायक हो गया एक ऐसे पुत्र के जन्म से, जो प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही इस ससार में आया है। जिसके जन्म लेते ही ऐसा लग रहा है कि किसी थके-हारे पथिक को शीतल छाया मिल गयी हो। पपीहे को स्वाति की

बूंद ।

और देवी त्रिशला का आनन्द तो मैं क्या बताऊँ। नारी का ऐश्वर्य उसका सुहाग होता है, किन्तु उसकी सार्थकता मातृत्व प्राप्ति मे ही है। पुत्र उसके यौवन प्रेम, वात्सल्य को सबल प्रदान करता है। और फिर महावीर जैसा पुत्र ? वे कल्पनाओ मे डूबी हुई थी। कभी पुत्र के मुख को देखती तो कभी शून्य आकाश को, जहा उन्हे वे सोलह स्वप्न साकार होते दिखायी पडते। एक ओर जहा वे पुत्र प्राप्ति के आनन्द से भर उठती, दूसरी ओर उन्हे इसका भी आभास होता इतना गुणशाली, ज्ञानी एव आत्मानुरागी पुत्र उनके घर कितने दिन ठहरेगा ? फिर सोचती— सभी सपने थोडे ही सच हो जायेंगे। मैं इसे इस जतन से रखूंगी कि मेरी गोद ही न छोडे। नारी का मन जितनी उडान भर सकता है, वे भर रही थी। जब वे पुत्र की सुवर्ण की आभावाली देह और चमकते सूर्य की दीप्ति वाले मुखमण्डल को देखतीं तो सब सोचना भूल जाती। सामने रहता नवजात शिशु का मनोहारी मुखडा और नयनो मे तैरती राजा सिद्धार्थ की छवि, जिसकी वह अनुकृति था।

प्रात.काल होते ही क्षत्रियकुण्डपुर से लेकर वैशाली तक का मार्ग जन-समुदाय की अपार भीड से अवरुद्ध हो गया था। जिसने सुना वही बधाई देने दौड पडा। उत्सवो की होड लग गयी। प्रमोदशालाएं सामाजिको से खचा-खच भर गयी। नृत्य-सगीत मे प्रतियोगिताएं चलने लगी। और राजपथो पर तो जैसे सारा खजाना ही बिछ गया हो। नागरिक अपनी झोलियो से सुवर्ण, धरण, कार्षापण मुट्ठियो मे भर-भर लुटा रहे थे। जिसके पास जो था, वह समग्र समर्पण करने के उल्लास मे हो गया था।

देवलोक इस आनन्द से वचित कैसे रहता। सौधर्म इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से जाना कि कुण्डग्राम मे चौबीसवे तीर्थङ्कर ने जन्म लिया है तो वह प्रसन्नता से भर उठा। समस्त देव-परिवार को सूचित कर वह जन्मोत्सव मनाने कुण्डग्राम आ पहुंचा। वहा आकर देवो ने जो उत्सव किये वे वहा के नागरिको को अविस्मरणीय हो गये। इन्द्र ने माता त्रिशला की वन्दना की। कहा—'जगदम्बे! तुम धन्य हो गयी। तुमने ऐसे बालक को जन्म दिया है, जो इस ससार को कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा। मेरी बधाई स्वीकार करो।'

इन्द्राणी ने बालक को प्रसूतिगृह से लाकर इन्द्र को दिया। इन्द्र उसे ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरुपर्वत पर ले गया, जहाँ उस बाल तीर्थङ्कर का अभिषेक किया गया। वस्त्राभरण पहिनाकर इन्द्र-इन्द्राणी उसे फिर माता त्रिशला को सौंप गये।'

'सुन रहे हो श्रीकण्ठ! इस अभिषेक मे एक विलक्षण घटना हुई। इन्द्राणी जब बालक की देह पोछ रही थी तो बालक के कपोल के जलबिन्दु सूखने का नाम ही नही लेते थे। सभी इस विलक्षणता मे स्तब्ध थे। तभी इन्द्राणी को बात समझ मे आ गयी। ये बूँदें कहाँ हैं, ये तो दर्पण से स्निग्ध, निर्मल कपोल पर उसी के आभूषणो के प्रतिबिम्ब हैं। उसकी आँखें महावीर के ऐसे रूप को देखकर सार्थक हो गयीं। इन्द्र को जो हजार नेत्रवाला कहा गया है, वह महापुरुषो के ऐसे सुरूप को देखने के कारण ही। जिसके जन्म पर राजभवन से लेकर देवलोक तक के लोगों मे ऐसा उल्लास उमडा हो उसके अस्तित्व के प्रति यह जगत् कितना प्रतीक्षित था, मात्र अनुमान किया जा सकता है।'

यहाँ तक की कथा कहकर आचार्य कश्यप ने एक स्तम्भ का सहारा ले लिया। थोडा रुककर बोले—'भद्र! मैं चाहता हूँ—महावीर के जन्मोत्सव मे आप सब भी सम्मिलित हो। रात्रि बहुत हो गयी है। मुझे विराम की आज्ञा दें, ताकि मैं उस तीर्थङ्कर के बचपन को सजो सकूँ, जिसकी कथा प्रातःकाल कहूँगा।'

कलाकारो के समुदाय में इस प्रकार हलचल हुई जैसे किसी ने भरे शान्त जलाशय मे ककड फेक दिया हो। सभी गुफा से निकलकर गुरुकुल की ओर ऐसे चल पडे जैसे सिद्धार्थ के राजभवन से महावीर का पालना झुलाकर नागरिक अपने घर लौट रहे हों।

५. बचपन

'भगवान महावीर के जीवन की महत्वपूर्ण घटना यह है कि उनके बचपन मे कोई घटना नही घटी । महापुरुषो के बचपन घटनाओ से शून्य हुआ करते हैं, क्योकि वे इस जीवन मे वह सब कुछ करने नही आते जो आमतौर से आदमी बचपन मे करता है ।…… '

प्रात काल जब शिल्पी-समुदाय एकत्र होकर कथा सुनने शात हो बैठ गया तो आचार्य कश्यप ने कथा का आरम्भ उक्त वाक्य से किया । और कथा का क्रम बनाये रखा—

'महावीर भी पूर्ण चेतनता लिए हुए जन्मे थे । अत वे ऐसा कोई कार्य बचपन मे नही कर रहे थे, जिसमे बचकानापन हो । यही कारण है कि उनके बोलने, खेलने, शिक्षाग्रहण करने आदि अनेक बातो मे उस समय के लोगो को अनेक अतिशय दिखायी दिये, जिनकी लम्बी-चौडी कहानिया ग्रन्थो मे मिलती हैं । किन्तु महावीर जैसी प्रज्ञा और अनुभव लेकर जन्मे थे, उनके लिए वह सब स्वाभाविक था । महावीर के बचपन के साथ जितने प्रसग जुडे हुए हैं वे सब मील के पत्थरो की भाति हैं, जो सत्य रूपी गन्तव्य तक पहुचने मे मदद करते हैं । जिन प्रसगों की तह तक मैं पहुँच सका हूँ, उनमे से कुछ आपको सुनाता हू ।'

कहते हैं, महावीर के जन्म के बारहवे दिन उनका नामकरण सस्कार हुआ । उनके जन्म से सब चीजो की बढोत्तरी हुई । धन बढा, यश बढा, राज्य का विस्तार हुआ । और सबसे बडी बात रानी त्रिशला और सिद्धार्थ के आनन्द की कोई सीमा न रही । अत बालक का नाम 'वर्द्धमान' रख दिया गया । किन्तु महावीर को इस सब वृद्धि से क्या प्रयोजन ? यदि उन्हे पता होता कि इस सब भौतिक और कर्मबन्धन की कारणभूत चीजो की वृद्धि के कारण उनका नाम 'वर्द्धमान' रखा गया है तो वे इसे स्वीकारने से मना कर देते ।

किन्तु कोई गहरा कारण था। जिसे वे जानते थे इसलिए यह नाम चल पडा। वास्तव मे महावीर की चेतना इतनी चुपचाप बढी होगी जैसे पौधो का वृक्ष बनना या कलियो का खिलना। महावीर का अन्तस् केन्द्र से परिधि की ओर इतना फैला होगा कि समस्त प्राणियो का कपन उन तक पहुँचने लगा होगा। इस आध्यात्मिक वृद्धि से ही महावीर का 'वर्द्धमान' नाम सार्थक हुआ होगा।

स्वय इस 'महावीर' नाम का सुन्दर कथानक है। किसी सगम नामक देव ने वर्द्धमान के मित्रो की उपस्थिति मे सर्प का रूप धारण कर उनके साहस और निडरता की परीक्षा ली। परीक्षा में खरे उतरने पर उन्हे 'महावीर' नाम से सम्बोधित किया, जो आज तक चल रहा है। किन्तु क्या वर्द्धमान की वीरता इतनी सासारिक थी ? इतना बल एव साहस तो कोई भी ऋद्धि प्राप्त बालक दिखा सकता था। नही, वर्द्धमान को 'महावीर' कहे जाने का गहरा कारण है। आध्यात्म के तल पर दो रास्ते हैं मुक्ति को प्राप्ति करने के। स्वय को परमात्म के प्रति समर्पित करके, स्वय के अस्तित्व को विलीन करके। और दूसरा रास्ता है, अपने स्वय के पुरुषार्थ द्वारा अपनी चेतना का सम्पूर्ण विकास करके मुक्ति पाना। यह रास्ता बडा कठिन है। इसमे परम्परा के विपरीत जाना होता है। नया निर्माण करना पड़ता है। स्वय हीरा बनना एक अलग बात है और स्वर्ण के रूप मे किसी हीरे के साथ जड जाना एक दूसरी बात है। वर्द्धमान की सम्पूर्ण यात्रा स्वय हीरे बनने की रही है। इसीलिए वे 'महावीर' कहे जाने के अधिकारी हुए हैं।

महावीर के स्वय विकसित होने का सबसे बडा प्रमाण यह है कि उन्होने किसी को अपना गुरु नही बनाया। सुना है कि आठ वर्ष की अवस्था मे जब उन्हे किसी गुरु के पास ले गये तो उसने इन्हें पढाने से मना कर दिया। क्योकि वह उतना भी नही जानता था, जितना महावीर जन्म के समय जानते थे। वे मति-श्रुत ज्ञान के धारक थे। उन्हे उधार के ज्ञान से कोई प्रयोजन नही था। इसलिए वे स्वय खोजना चाहते थे। उनमे सीखने की अद्भुत क्षमता थी। उन्होने ज्ञान को स्वय उपलब्ध करने का प्रयत्न किया, किसी से लेने का नही। उनकी सहज उपलब्ध प्रज्ञा की महिमा कुछ ऐसी थी कि जिज्ञासा उत्पन्न होते ही समाधित हो जाती थी। उनके दर्शनमात्र से अन्तनयन उघड

जाते थे। सामान्य लोगो के ही नही, ज्ञानियो के भी। कहा जाता है कि एक वार उन्होंने सजय और विजय नामक दो चारण-मुनियो के चित्त की तात्विक जिज्ञासाओ को भी अपने दर्शनमात्र से समाधित कर दिया था। तब से वर्द्धमान का 'सन्मति' नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार न जाने कितने नाम महावीर के लिए प्रयुक्त हुए होगे। जिसने उनके जिस प्रधान गुण का साक्षात्कार किया होगा, वह उन्हे उस नाम से पुकारने लगा होगा। 'वीर', 'अतिवीर', 'महावीर', आदि नाम सब उनके दृढ सकल्पी, निर्भयी और स्वतन्त्रचेता होने के प्रमाण हैं। साथ ही इस बात के कि उनका बचपन इतनी प्रौढता और विचारो की परिपक्वता से युक्त था, जितनी अन्य लोग लम्बी साधना के बाद भी प्राप्त नही कर पाते।

महावीर के बचपन के व्यक्तित्व मे ही अनेकान्त व्याप्त था। वैचारिक सहिष्णुता उनके प्रत्येक कार्य से प्रगट होती थी। उनके बचपन का एक प्रसग अनेकान्त की भूमिका के रूप मे स्मरण किया जाता है—

एक दिन महावीर के बचपन के साथी उन्हे खोजते हुए माता त्रिशला के पास पहुँचे। उस समय त्रिशला राजभवन की तल-मजिल मे कार्यरत थी। बच्चो ने जब उनसे वर्द्धमान के सम्बन्ध मे पूछा तो उन्होने कह दिया— 'वर्द्धमान ऊपर है।' क्योकि प्राय. उन्होने महावीर को भवन की चौथी मजिल पर विचारमग्न बैठे हुए देखा था।

बच्चो की टोली दौडते-दौडते भवन की अंतिम सातवी मजिल पर पहुँच गयी। वहा राजा सिद्धार्थ किसी कार्य मे व्यस्त थे। किन्तु वहा, वर्द्धमान नजर नही आये। बच्चो ने कौतुकवश सिद्धार्थ से पूछा—'मित्र वर्द्धमान कहा है?' सिद्धार्थ जानते थे कि कुमार इस मजिल के नीचे कही खेल रहा होगा। अत: उन्होंने सहज ही कह दिया—'वह नीचे है'। बालक बडी दुविधा मे पड गये। त्रिशला माँ कहती है—'वर्द्धमान ऊपर है' और ये कहते हैं—'नीचे है'। दोनो असत्य नही बोलते। किस पर विश्वास किया जाय? अन्ततः सबने भवन की प्रत्येक मजिल मे वर्द्धमान को खोजना प्रारम्भ किया। चौथी मजिल के एक वातायन मे वर्द्धमान ध्यान मे लीन थे। बालको ने उनकी एकाग्रता टूटने पर उनसे बातचीत की एव अपने मन की इस दुविधा को भी पूछ लिया कि

त्रिशला एव सिद्धार्थ मे से किसका कथन सत्य माना जाय ?

कुमार वर्द्धमान ने हसकर उत्तर दिया—'दोनो का कथन सत्य है।' यह कहकर उन्होने अपने साथियो को वातायन पर वुला लिया। वहा से दिखायी पडने वाले एक कौए की ओर सकेत करके उन्होने पूछा—

'वन्धुओ ! यह कौआ कैसा है ?' सभी साथियो ने कहा—'काला है।' वर्धमान ने उन्हें समझाते हुए कहा—वह काला ही नही, लाल भी है और सफेद भी। रुधिर की अपेक्षा वह लाल, अस्थियो की अपेक्षा सफेद एव देह की अपेक्षा वह काला है। यही वात मा और पिताजी के कथन के सम्वन्ध मे है। मा नीचे की मजिल मे थी अत. उन्होने मुझे ऊपर वतलाया और पिताजी सवसे ऊपर की मजिल मे थे अत उन्होने नीचे की ओर सकेत किया। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु के स्वरूप के सम्वन्व मे है।'

कुमार के साथी इस प्रकार का विवेचन सुन प्रसन्न हो गये। उन्हे वर्धमान की मित्रता सार्थक लगी। वर्धमान इसी प्रकार बचपन के दिनो मे जीवन के गम्भीर विषयो के सम्वन्ध मे चिन्तन करते रहते थे। मैं यह नही कहता यह या इस प्रकार की घटनाएँ उनके बचपन मे घटित हुई होगी। किन्तु घटित होने की पूरी सम्भावना है। क्योकि जिस व्यक्ति का अन्तस् इतना चेतन और सजग हो वह ससार के पदार्थों के प्रति गहरायी से अवश्य सोचेगा। वर्धमान का वचपन वास्तव मे एक प्रयोगशाला थी, जहा वे अपने प्रत्येक चिन्तन और अनुभव का सग्रह कर उन्हे कसौटी मे कस रहे थे। वे उस शक्ति को सजो रहे थे, जिसके माध्यम से आगे चलकर इसी वात को विश्वास-पूर्वक कहा जा सके।

महावीर के साथ सम्वद्ध चिन्ह की वात करके उनके वचपन की कथा समाप्त करूँगा। आप सव ने पढा या सुना होगा कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ कोई न कोई पशु या पक्षी का चिन्ह जुडा हुआ है। यह केवल तीर्थङ्करो की मूर्तियो को पहचानने के कारण नही जुडा, अपितु इसका गहरा कारण है। महावीर का चिन्ह सिह है। कहा जाता है कि वे पूर्वभव मे सिह थे अत इस जन्म मे शरीर ग्रहण करने पर उनके दायें पग पर सिह का चिन्ह अकित था, जो उनके साथ जुड गया। किन्तु सिह के चिन्ह का महावीर के साथ यह

सयोग अन्य बातो की ओर भी सकेत करता है। महावीर पूर्वभवो से तादात्म्य करने मे सिद्धहस्त थे। पूर्वजन्म की स्मृति मे जाने पर वे उन सुखो की असारता पर विचार करते थे जो वे भोग चुके थे। और उन शक्तियो को प्राप्त करने मे लग जाते थे, जिन्हे वे उस भव मे नही पा सके। अत महावीर ने जब अपने पूर्वभव 'सिह' से तादात्म्य किया तो उन्हे अनुभव हुआ कि 'मैं सिह हू।' सिह होने का अर्थ है—भीड से हटकर एकाकीगमन, विजय का अदम्य भाव तथा अभय की प्राप्ति। महावीर की साधना मे ये तीनो गुण प्रधान रहे हैं। अत महावीर का पर्यायवाची सिह हो गया, जो एक गहन सत्य का उद्घाटक है।

वर्धमान बचपन से यौवन मे कब प्रवेश कर गये किसी को पता नही चला। क्योकि उनका बढना बडा चुपचाप था। उन्होने वह कुछ नही किया जो लोग वयसंधि मे, यौवन के प्रारम्भ मे करते हैं। राजा सिद्धार्थ महावीर के जीवन के उद्देश्य से परिचित थे। उन्हे यह आभास हो गया था कि इसका जन्म राजपाट के भोग के लिए नही हुआ। धार्मिक एव वैचारिक क्रान्ति का यह जन्मदाता होगा। अत यह उसी पथ की ओर अग्रसर है। इसलिए वे अधिक चितित नही थे, जितना जवान वेटे-बेटियो के बाप होते हैं। किन्तु ममतामयी मा त्रिशला को वर्धमान का इस प्रकार गुमसुम रहना, चितन करते रहना, किसी प्रकार की जिद न करना अच्छा नही लगता था। उन्होने जाना ही नही कि लडके मा-बाप को कैसे परेशान करते है। अत जब उनका मातृत्व सुप्त-सा होने लगा तो उन्होने वर्धमान को सासारिक बनाने का निश्चय किया।

एक कथा आती है कि मा त्रिशला ने वर्धमान के मन को ससार की ओर आकर्षित करने में सगीत को अधिक उपयोगी समझा। स्वय आयोजिका बनकर उन्होने राजभवन की रगशाला मे प्रसिद्ध सगीताचार्य कन्दर्प और सोम को आमन्त्रित किया। ये दोनो गन्धर्व अपनी-अपनी कला के लिए देश-देशान्तरो मे विख्यात थे। कन्दर्प भोगरागो का विशेषज्ञ था तो सोम योगरागो का। एक का विषय शृगार था तो दूसरे का शान्त। अत. उन्हे सुनने के लिए सम्भ्रान्त नागरिको की भीड उमड़ पडी। दर्शको मे वर्धमान भी अपने साथियो के साथ

उपस्थित थे। कला को वे आत्म-पुरुषार्थ की जागृति का साधन मानते थे।

सर्वप्रथम आचार्य कन्दर्प ने विभिन्न भोग-रागो का आलाप किया। दर्शक मन्त्रमुग्ध हो गये। वर्धमान तटस्थ बने रहे। किन्तु उनकी तटस्थता त्रिशला से छिपी न रही। वे वर्धमान को प्रसन्न देखना चाहती थीं। अतः कुछ समय बाद उन्होने आचार्य सोम को रगमच पर आमन्त्रित किया। सोम ने तन्मय होकर ऐसा गाया कि दर्शक शान्तरस मे डूब गये। वर्धमान फिर भी निश्चल थे। किन्तु उनकी आंखो मे एक चमक थी, जो किसी राह का अन्वेषण कर रही थी। मा त्रिशला को जब उस राह का भान हुआ तो उनकी ममता विचलित हो उठी। उन्होने कार्यक्रम समाप्त करवा दिया। वर्धमान के अशान्त मन को और दृढ-बन्धन मे बाधने का वे उपाय सोचने लगी।

सुगन्धित पुष्प की सुवास फैलते देर नही लगती। वर्धमान का सौन्दर्य, तारुण्य एव उनके गुणो की विलक्षणता वैशाली जनपद के अतिरिक्त पूर्व एव पश्चिम के प्रान्तो मे विख्यात थी। जब यह ज्ञात हुआ कि मां त्रिशला वर्धमान का विवाह करना चाहती हैं तो चारो ओर के राजाओ की ओर से विवाह के प्रस्तावो का ढेर लग गया। किन्तु कलिंग-जनपद के शासक जितशत्रु की कन्या यशोदा ने राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला का मन जीत लिया। जितशत्रु को अपनी स्वीकृत भेजने के पूर्व सिद्धार्थ ने कुमार वर्धमान से परामर्श कर लेना आवश्यक समझा। अत: अवसर पाकर उन्होने कुमार से प्रसग चलाया। वर्धमान पिता को क्या जवाब देते। वे उस स्थिति मे पहुँच गये थे जहा नारी-पुरुष एव पति-पत्नी का द्वैत तिरोहित हो चुका था। वर्धमान ने पिता की आखो मे झाक कर देखा। सिद्धार्थ को कुमार की आखो मे जिस निसगता के दर्शन हुए वहा विवाह की बात करना ही व्यर्थ था। उनके समक्ष त्रिशला द्वारा देखे गये स्वप्न उतर आये, जिनके परिणामस्वरूप वर्धमान को निर्धूम अग्नि होना है। मोक्षपथ का पथिक। अत यह सासारिक मोह का बधन किस आशा मे बाधा जाय? सिद्धार्थ ने जोर नही दिया। वर्धमान को रानी त्रिशला के पास भेज दिया।

ममता अधिक प्रबल होती है। आशावती भी। पुत्र को प्रियकारिणी ने

बहुविध समझाया। माता-पिता एवं परिवार के प्रति पुत्र के दायित्वो का स्मरण कराया। यह भी कहा—'अभी तुम्हारी वय ही कितनी है ? तुम वैराग्य धारण करने मे आत्मकल्याण देखते हो तो ले लेना सन्यास। बहुत लोगो ने लिया है। किन्तु समय आने पर। कुछ दिन तो ऐसा लगने दो कि मैं पुत्रवती हू। तुम्हारा तो बचपन मैंने जाना नही। पता नही तुम किस मिट्टी के बने हो। तुम्हारी सन्तान की बाल-लीलाए ही देखकर सन्तुष्ट हो लूंगी। क्या कहते हो, भेज दू कलिंग-नरेश की दुहिता के लिए अपनी स्वीकृति ?

महावीर शान्तभाव से मा की बातें सुनते रहे। वे जानते थे ममता-मोह कोई तर्क नही सुनना चाहता। अत उन्होने इस समय एक अद्भुत प्रयोग किया। जैसे यदि कोई व्यक्ति तेज क्रोध मे हो और उसे समझाया जाय कि क्रोध करना बुरा है, मत करो तो वह और भडकेगा। किन्तु क्रोध मे विकृत उसके चेहरे को यदि दर्पण दिखा जाय तो वह शान्ति मे लौटना प्रारम्भ कर देगा। महावीर ने मां त्रिशला को जातिस्मरण कराने का प्रयत्न किया। पूर्व जन्मो के उपस्थित होने पर उन्होने बतलाया—'मा ! देखो तुम कितनी बार पुत्रवती हुई हो। कितने बच्चो को तुमने गोद खिलाया है। कितनी बहुओ की सास बनी हो। कितने विवाह तुमने किये हैं। बोलो, तुम्हे सन्तुष्टि हुई है कभी ? फिर क्यो एक और सख्या बढाना चाहती हो। मैंने सामान्य से सामान्य प्राणी को कष्ट नही पहुचाया। फिर भला तुम्हे क्यो दुखी करूंगा। आग्रह करना मैंने नही सीखा। जो तुम्हे रुचे, कर सकती हो। किन्तु सोचो क्या इस सबसे मेरी यात्रा रुक जायेगी ? बाध बाधने से जल का स्वभाव बहना समाप्त तो न हो जायेगा ? फिर मेरे निमित्त किसी एक और प्राणी को विरह, मोह मे डालना तुम्हारे कर्मों मे वृद्धि ही करेगा। और तुम तो श्रमणोपासिका हो। तुम्हारे धर्म एव कर्तव्य के सम्बन्ध मे मैं क्या समझाऊँ ?'

त्रिशला उसी तरह निरुत्तर हो गयी जैसे कोई गुरु अपने शिष्य की विद्वत्ता से पराजित हो गया हो। पार्श्वनाथ की परम्परा मे दीक्षित होने के नाते त्रिशला ने सोचा—'वर्धमान का आत्मकल्याण का मार्ग ही ठीक है। मुझे

रुकावट नही डालना चाहिए।' उनकी ममता ने विचार किया—'अभी वर्धमान की तरुण अवस्था प्रारम्भ ही हुई है। मन कच्चा है। बदल भी सकता है। अत आग्रह नही करना चाहिए।' और अपने लाडले की बात मानकर उन्होने जितशत्रु को विवशता दर्शाते हुए अपनी अस्वीकृति भेज दी। इस प्रकार महावीर के विवाह का प्रसग टल गया। उनका वैरागी मन निर्द्वन्द और निस्कटक हो गया।'

आचार्य कश्यप ने कथा रोककर कनकप्रभा की ओर देखा। उसकी आखो के सरोवर मे प्रश्नो के कमल तैर रहे थे। काप रहे थे होठ कुछ कहने के लिए। आचार्य का सकेत पाते ही उसका स्वर उबलपडा—'आचार्यप्रवर! धृष्टता क्षमा हो। आप पुरुषो का कथा कहने का एक ही स्वर है। चाहे वह इतिहास की हो, धर्म की हो, शिल्प या कला के चातुर्य की। हर जगह स्त्री बन्धन है, बाधा है, मोह है और न जाने क्या-क्या। गुरुदेव! क्या पुरुष स्त्री का बन्धन नही है? उसके मुक्तिपथ का कटक नही है? फिर यह स्त्री से भागने का इतिहास कैसा? बुद्ध पत्नी को सोती हुई छोड़कर चले गये। वर्धमान ने विवाह को ही अस्वीकार कर दिया। यही है उनकी महावीरता? आखिर क्यो?'

कनकप्रभा के इस साहस से शिल्पी-समुदाय मे सन्नाटा छा गया। इतनी बेलाग बात तो वे स्वय अपने गुरुदेव से कभी नही कर सके, जैसी यह अतिथि कलाकार कर रही है। चित्रागद और श्रीकठ कनकप्रभा को एकटक देखते रह गये। क्रोध से तमतमाते उसके चेहरे को। उसकी प्रगल्भता को। इन सबसे अलग आचार्य कश्यप शान्त थे। आंख-मीचे प्रश्नो की गहराई का अनुभव कर रहे थे। चितन का क्षण टूटते ही बोल उठे—

'आयुष्मति! साधुवाद तुम्हारी तर्कशीलता पर। नारी जीवन पर इतिहास की क्रूरता व कटाक्षो के उत्तर देने की सामर्थ्य मुझ मे नही है। नारी के प्रति बुद्ध का अपना दर्शन था। अपनी अनुभूति। तादात्म्य मेरा महावीर की चेतना मे है। उनकी बात कह सकता हूँ। महावीर ने विवाह करने से इन्कार इसलिए किया कि उनकी अहिसा की परिधि उसे स्वीकार न कर पाती। उनके युग मे पति होने की धारणा थी—स्त्री पर स्वामित्व,

एकाधिकार । अब तुम्ही सोचो, जो व्यक्ति अचेतन पदार्थो पर अपना स्वामित्व, अधिकार नही रखना चाहता वह एक जीवित स्त्री का मालिक कैसे हो सकेगा? महावीर के सामने नारी की निकटता और त्याग का प्रश्न नही है । स्वय के अहकार के विसजन का सकल्प है । घर मे वे इस प्रकार रहते थे जैसे न हो । उनकी इस अनुपस्थिति से अभी मां, वाप ही चिंतित रहते है । सन्तान के प्रति मोह जागृत कर अपने कर्मों की वृद्धि करते हैं । विवाह होने पर पत्नी भी इसमे सम्मिलित हो जायेगी । महावीर की यह दृष्टि थी ! वे इस जन्म मे जीवो को कर्मों से मुक्ति पाने का मार्ग वताने आये थे, कर्मों का सचय कराने नही । महावीर तुम्हारी वात ही सोच रहे थे । नारी के सयोग से उन्हे अपनी मुक्ति का भय नही था । वे अपने कारण किसी नारी की मुक्ति की अवधि लम्वी नही करना चाहते थे ।

इस वात पर भी सोचो विवाह क्यो होता है ? इसलिए कि नारी एव पुरुष दोनो कही न कही अपूर्ण हैं, उनके सयोग से परस्पर मे पूर्णता की प्राप्ति हो । महावीर तो इस अपूर्णता से कब के ऊपर उठ चुके थे । देह और आत्मा की भिन्नता का जब से उन्होने अनुभव किया, देह की आवश्यकताओ की पूर्ति करना उन्होने छोड दिया था । उनके सम्पर्क मे आकर कोई अपने को पूर्ण कर सकता था, उन्हे पूर्ण होने के लिए किसी की अपेक्षा नही थी । फिर वे विवाह किसलिए करते ? विवाह की तीसरी सार्थकता है सतान की प्राप्ति । इसके मूल मे है व्यक्ति की वह आकाक्षा, जिसमे वह अपने अ श को सुरक्षित रखना चाहता है । जिन इच्छाओ की पूर्ति वह स्वय नही कर सका उनकी पूर्ति सन्तान के माध्यम से करना चाहता है । इच्छाओ के सग्रह का इतना लम्बा जाल महावीर कैसे स्वीकार कर लेते ? इच्छाओ के विसर्जन के लिए ही तो उनकी साधना थी । अत उन्होने जिस पथ का अनुसरण किया वह उनकी महावीरता का ही द्योतक है । आयुष्मति ! नाराज तो नही हो ?'

'गुरुदेव ! अपने अज्ञान पर लज्जित हू । ज्ञात नही था, महावीर के जीवन मे आप का इतना प्रवेश है । आचार्यप्रवर ! आगे की कथा कहे ।' कनकप्रभा यह कहकर अपने आसन पर बैठ ही नही पायी थी कि शिल्पीसघ से एक प्रश्न और उभरा—'समाधानो के इस दौर मे इस अन्तेवासी को

भी कृतार्थ करें गुरुदेव ! जैनधर्म की श्वेताम्बर परम्परा महावीर के विवाह को स्वीकार करती है। कहते हैं, उनके 'प्रियदर्शनी' नाम की एक पुत्री भी हुई थी जिसका 'जामालि' नामक विचारक से हुआ था। आचार्यप्रवर ! एक ही धर्म की दो परम्पराओं में ऐसा विरोध क्यों ?'

'भद्र श्रीकण्ठ ! विरोध होने पर ही तो परम्परा बनती हैं किसी धर्म में। यह स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक महापुरुष के जीवन का मूल्यांकन करने के लिए हर व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। जिसकी दृष्टि का जो पैमाना होता है तदनुसार वह तथ्यों की गहराई तक पहुँच पाता है। जिस प्रसङ्ग की तुम बात कर रहे हो वह श्वेताम्बरों के 'कल्पसूत्र' नामक ग्रंथ में उल्लिखित है। उसके पूर्व के ग्रंथों में नहीं। महावीर को विवाहित मानने के कारणों पर विचार करें तो बात स्पष्ट हो सकेगी। प्रमुख कारण यह है कि महावीर की अहिंसा का अर्थ—'किसी भी प्राणी का मन न दुखाना, उस समय तक निश्चित हो चुका था। अत. जो व्यक्ति छोटे से छोटे प्राणी के प्रति करुणावान् है वह अपने माता-पिता की भावना को ठेस कैसे पहुचायेगा ? उनकी किसी बात का विरोध कैसे करेगा ? इसलिए जब माता-पिता ने कहा, उन्होंने विवाह कर लिया। जब तक वे जीवित रहे, महावीर ने गृहत्याग नहीं किया, आदि। इन बातों को श्वेताम्बर परम्परा ने इसलिए दृढता से स्वीकार किया ताकि महावीर की करुणामय अहिंसा एव अनाग्रही वृत्ति अधिक उजागर हो सके।

इस प्रसङ्ग को स्वीकार करने में दूसरा कारण तत्कालीन सामाजिक प्रभाव है। समाज में मर्यादापुरुषोत्तम राम के आदर्श प्रचलित थे। माता-पिता के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ एव आज्ञाकारी के रूप में। ब्राह्मण परम्परा के एक आदर्शपुरुष के समकक्ष महावीर को गृह-दायित्वों से पलायन करने वाला कैसे मान लिया जाता ? अत उनमें वे सभी गुण प्रतिष्ठित किये गये जो एक महापुरुष में होना चाहिए। यद्यपि इन सभी गुणों और विशेषताओं की उपलब्धि महावीर को पिछले जन्मों में हो चुकी थी। इस अंतिम जन्म में वे इन सबसे ऊपर उठने आये थे सो उठे भी। किन्तु वहा तक दृष्टि कुछ ही साधकों की पहुच पायी है।

महावीर के जीवन में इस मान्यता के जुड़ने तक भगवान बुद्ध द्वारा पत्नी

श्रीर पुत्र को सोता हुआ छोडकर गृहत्याग की कथा अभी पुरानी नही पडी थी। वह महापुरुष कैसा, जो कठिनाईयो से भाग खडा हो ? अत महावीर के जीवन के साथ जैसे चडकौशिक सर्प, कीलें ठोकने वाला ग्वाला, स्थाणुरुद्र, आदि की कथाएं जुडी वैसे ही उनकी त्यागवृत्ति, कर्त्तव्यपरायणता एव कारुणिकता को उजागर करने के लिए उनके भरे पूरे परिवार की प्रतिष्ठा की गयी। पत्नी, पुत्री, दामाद इन सबको त्यागकर महावीर निकल पडे। कितने बडे त्यागी, ? किन्तु वास्तविकता यह थी कि उन्होने राजसी वैभव, राजभवन, परिवार के सदस्यो के अस्तित्व को ही नही स्वीकारा था, त्याग किसका करते ? इन सबकी असारता का बोध जिस दिन पूर्ण रूप से सघन हो गया उस दिन वे इनसे बाहर हो गये। पुन: उनमे फसने का प्रश्न ही नही उठता।

इस प्रसंग मे एक बात यह भी नजर आती है कि यदि महावीर का विवाह हुआ होता तो गृह-त्याग के बाद ४२ वर्षों के तपस्वी जीवन में कहीं तो यशोदा से उनकी भेंट होती ? किसी स्थान पर उनकी पुत्री ने उन्हे आहार दिया होता ? और कुछ नही तो इतिहास ही उनकी अल्पायु के सम्बन्ध मे कुछ कहता ? किन्तु इस प्रसग की जितनी अर्थवत्ता थी, उतना ही इसके साथ हुआ।

भद्र श्रीकण्ठ! इतना और समझ लें, हर महापुरुष अपने समय के बाद स्वय के अनुयायिश्रो द्वारा निर्मित घेरो मे जीवित रहता है। चाहे वे उसे अलौकिक बनायें या ससारी। किन्तु उसकी गुणवत्ता मे कोई कमी नहीं आती। अत यदि महावीर के व्यक्तित्व को गहरायी से समझना है तो कम से कम इतने दायरे तो बनायें, जिनमे सहजता से विचारो का आदान-प्रदान हो सके। तुमने इस प्रश्न को उठाकर मुझे और चिंतन का अवसर दिया। मैं प्रसन्न हू। किन्तु कुछ थक भी गया हू। अत आगे की कथा अब मध्यान्ह मे कह सकूँगा। तब तक आप सब भी विराम कर लें।

००

६. अभिनिष्क्रमण

मध्यान्ह के अतिम प्रहर मे शिल्पीसघ पुन एकत्र हुआ। इसके पूर्व अवकाश के क्षणो मे आचार्य द्वारा कथित अब तक की कथा के सम्बन्ध मे वे सभी कलाकार विचार-विमर्श कर यहा आये थे। आगे की कथा के प्रति अब वे पूर्ण सजग थे और उत्सुक भी। आचार्य अपने आसन पर बैठे हुए ध्यानमग्न थे। उनके सौम्य चेहरे को देखकर लगता था वे वैशाली के आस-पास विचरण करते हुए भगवान महावीर के प्रसगो को वातावरण से समेट रहे हैं। नयन खुलते ही उन्होने कथासूत्र को सम्हाल लिया—

'महावीर माता-पिता को विवाह के प्रति अपनी विरक्ति के भाव बतलाकर निश्चित नहीं हो गये थे। उनकी चिन्तन की यात्रा और गतिशील हो गयी। अपने जीवन के सम्बन्ध मे उन्होने सोचा—मैं आज जिन क्षणभगुर पदार्थों और रिश्ते-नातो के बीच हू, उन्हे कितनी बार भोगा है ? क्रमश. उनके स्वरूप को जब जान पाया तो लगा इनसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है ? और तब मैंने उसे खोजने की यात्रा प्रारम्भ कर दी जो मेरा था। मेरा है। पूर्व जन्म के अनन्तभव आत्मा के स्वरूप को अनुभव करने मे लग गए। आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता से परिचित होते ही यह सारा ससार अज्ञान और मोह से पीडित नजर आने लगा। मै क्रमश. इस बन्धन से विलग होने लगा। और आज इस तिथि तक पहुच पाया हूँ कि स्वय को सत्य की उपलब्धि के समीप पाता हूँ।'

कभी वधमान अपने युग की स्थिति, वातावरण के सम्बन्ध मे सोचने लगते तो पाते कि लोग धार्मिक क्रियाकाण्डो और दार्शनिक मत-मतान्तरो मे बुरी तरह फस गये हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे विचारक भी हैं, जो इस प्रकार के विकृत धार्मिक क्रियाकाण्डो से मुक्ति तो चाहते हैं किन्तु उन्हे सही रास्ता नही मिल रहा है। प्रत्येक विचारक क्रान्ति का स्वय अगुआ बनना चाहता

है । इम धार्मिक अशान्ति का समाधान उसके पास भी नही है । इन सब विचारको के प्रयत्नो का समन्वय कैसे हो ? किस प्रकार समाज को एक सरल एव पुरुषार्थी धर्म की प्राप्ति हो, महावीर इस पर गहरायी से चिंतन करते रहते ।

जब कभी उनकी दृष्टि सामाजिक दशा पर उठ जाती तो उनका हृदय करुणा से भर जाता । वे देखते कि किस प्रकार समाज का एक वर्ग सब पर छाया हुआ है ? शिक्षा, सुविधाएँ एव स्वतन्त्रता किसी एक वर्ग तक ही सीमित हो गयी है । और सबमे बडी बात यह है कि समाज का आर्थिक पक्ष ही कटा जा रहा है, जो किसी भी समाज के विकास के लिए अनिवार्य है । तत्कालीम राजनीतिक दशा उन्होने बहुत समीप से देखी थी । साम्राज्य-वादी प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र राज्यो का अस्तित्व ही समाप्त होता जा रहा है, जिसके मूल मे है परिग्रही और भयात्मक प्रवृत्तियो की प्रबलता ।

समाज की इन परिस्थितियो के प्रभाव से मानव-मानव के बीच बहुत अन्तर आ गया है । कैसे होगा मेरी साधना एव ज्ञान का इन सबके कल्याण मे उपयोग ? मेरे पूर्व इतने तीर्थङ्कर हुए हैं । प्रत्येक ने जनहित के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न किये हैं । किन्तु मेरे समय की स्थिति विकट है । अत. मुझे निश्चित रूप से कुछ नया करना होगा । भले उसकी साधना मे यह जीवन लगा देना पडे । मुझे अब इन सब व्यवधानो के आगे निकलना होगा और लगना होगा आत्मशुद्धि की दिशा मे एकाग्र हो । तभी यह उपलब्ध हो सकेगा, जिससे स्वय मुझे और इस अशात जगत् को अपना लक्ष्य प्राप्त होगा । इस प्रकार महावीर के मन मे वैराग्य की तरगें चचल हो उठो थी । उनके उफान से सासारिक बन्धनो का किनारा ढहने ही वाला था ।'

'प्राय महापुरुष जगत् की आवश्यकता हुआ करते हैं । इसलिए जगत् की शक्तिया, वातावरण जो चाहे सो उनसे कार्य करालें । वे स्वय कुछ कहा करने नही आते । महावीर का वैराग्य जब इतना प्रबल हो गया तो लोकान्तिक देवो ने आकर उनसे प्रार्थना की—'प्रभो ! आपने इस ससार का कल्याण करने के लिए इस जन्म को धारण किया है । आपका मन स्वय वीत-रागता की उपलब्धि हेतु सकल्पित है । अतः आप अपनी साधना और ज्ञान

द्वारा जगत् को वह प्रकाश दें, जिसकी वह प्रतीक्षा कर रहा है। आप स्वयं कारुणिक हैं। आपका अभिनिष्क्रमण अब निकट ही है।'

देवो की इस प्रकार की वन्दना से महावीर साधना मे प्रवृत्त होने के लिए और आतुर हो गये। उनके इस सकल्प का समाचार इन्द्र को अवधिज्ञान से प्राप्त हुआ। वह महावीर की जन्मभूमि कुण्डलग्राम मे आ पहुँचा तथा अनेक उत्सवो एव आयोजनो को हर्षपूर्वक सम्पन्न करने लगा।

महावीर अपने अभिनिष्क्रमण के प्रति जितने ही मौन थे, उतनी ही वैशाली के घर-घर मे उसकी चर्चा होने लगी। परिपक्व बुद्धि के लोग वर्धमान के इस सकल्प की प्रश सा मे व्यस्त थे। वे सिद्धार्थ और माता त्रिशला को ऐसे सुपुत्र की प्राप्ति के लिए धन्य समझ रहे थे। कुछ ढलती उमर के लोग चिंतित थे कि देखो, इस बुढापे मे सिद्धार्थ को पुत्र से कोई सहारा न मिला। बच्चो को पता नही था कि यह क्या हो रहा है? किन्तु वे खुश थे कि देखो कितने उत्सव हो रहे हैं। किशोरवय के लोगो को महावीर से स्पर्धा हो रही थी। कितना तेजस्वी है इसका स्वरूप, इसकी कान्तिमयी देह? किशोरिया फुस-फुसा रही थी—हाय! हतभाग्या यशोदा? ऐसा जीवनसाथी हाथ से निकल गया। इनके ये वन जाने के दिन हैं? प्रौढ़ा महावीर से एक बात करने को तरस गयी। इतने दिन ये राजभवन मे बन्द रहे और अब निकलेंगे तो मौन हो जायेंगे। माताएँ, जननी त्रिशला के दुख की कल्पना कर रही थी। जितने लोग, उतनी ही बातें।

यह तो नगर की स्थिति थी। राजभवन की तो बात ही मत पूछो। एक विषाद-सा छा गया था। जिसे देखो वही चुप। इशारो का साम्राज्य हो गया था। जैसे इस सबसे महावीर रुक जायेंगे। परिजनो ने जाना ही नही था कि वर्धमान की उन्होने कोई सेवा की है। परिचारिकाए अपनी-अपनी कलाए भूलने लगी थी। महावीर ने कोई अवसर ही नही दिया उन्हें अपनी आज्ञा-पालन करने का। और अब यह व्यक्ति हमेशा के लिए चला जायेगा। सभी हैरान थे। निश्चिन्त थे तो मात्र सिद्धार्थ। उनके समक्ष स्वप्नमाला अब साकार हो रही थी। उन्होने सोचा—'वर्धमान अपने लक्ष्य पर ही जा रहा है। वह मुझसे अच्छी तरह जानता है कि उसे क्या करना है। वह प्रज्ञा और अनुभव

में मुझसे बडा है। दिनोदिन और बडा होगा। किसी पिता का इससे बडा और क्या सौभाग्य होगा कि उसका पुत्र उससे श्रेष्ठ निकला। आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो।'

यह कहते हुए आचार्य कश्यप का गला रुंध आया। क्षण भर विराम के लिए वे रुके। तभी कनकप्रभा ने पूछ लिया--'गुरुदेव! माता त्रिशला को इस समय कैसा लगा ?'

'आयुष्मति! तुम इसकी कल्पना अच्छी तरह कर सकोगी कि एक नारी को प्राणो से प्रिय पुत्र के विछोह का दुख कितना हुआ होगा ? मा त्रिशला ने जैसे ही वर्धमान के इस आध्यात्मिक प्रयाण का समाचार सुना, उनकी ममता बावली हो उठी। प्राण सकट मे फस गये। वे सोचने लगीं--'यही दिन देखने क लिए मैंने वर्धमान को जन्म दिया था ? उसे जन्मे उन्तीस वर्ष हो गये। मैंने उसके कोमल चरणो के नीचे धूल नही लगने दी। वही अब बीहड पर्वतो मे घूमेगा ? मेघ गरजते थे तो मैं भवन के सारे वातायन बन्द करा देती थी कि मेरा लाडला कही गर्जन से डर न जाये। वह अब सिंहो की गर्जना और हाथियो की चिंघाड को सुनता फिरेगा ? कैसे सहेगा वह मूसलधार वर्षा, पत्थर गला देने वाली ठड और भस्म कर देने वाली प्रचड गर्मी ? यहा तो वह दस बार मनाने पर नाममात्र को भोजन करता था, वहा क्या खायेगा जगलो मे ?' इन सब आशकाओ से रानी त्रिशला का रोम-रोम काप उठा। वात्सल्य की तीव्रता से वे मूर्छित हो गयीं।

परिचारिकाओ के उपचार के बाद जब वे सचेत हुई तो मूर्छा के साथ उनका वात्सल्य-मोह भी टूटने लगा। उन्हे पति सिद्धार्थ द्वारा कथित स्वप्नो के परिणाम याद आने लगे। उन्होने वर्धमान को आत्मकल्याण का पथिक और धर्म-प्रवर्तक होना बतलाया था। अत यह कुछ अनहोनी नहीं है। इस विचार के आते ही वे वर्धमान के जन्म से अपने को सार्थक मानने लगी। और उस सुपुत्र के दर्शन करने को लालायित हो उठी, जो उनमे जन्म लेकर भी अब उनका नही था। वहा उपस्थित देवो ने भी माता त्रिशला को अपने वचनो द्वारा सान्त्वना दी और कहा—'जगदम्बे! आप एक लोकोद्धारक विभूति को जन्म देकर धन्य हो गयी हैं। वर्धमान तीर्थङ्कर हैं। वे सभी

प्रकार के परिषहो को जीतने मे समर्थ होते हैं। अत आप उनके दुख की कल्पना से चिंतित न हो। बल्कि उन्हे आशीष दे कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सफल हों।'

तभी वहा राजा सिद्धार्थ भी आ गये । प्रियकारिणी से दृष्टि मिलते ही बोले–'हा' त्रिशले ! हमे अब यही करना चाहिए। चलो, वर्धमान का जैसा हमने जन्मोत्सव मनाया था, वैसे ही उसके निष्क्रमण की तैयारी करें ? मन मे ममता और आखो मे घिरे सावन-भादो वाली त्रिशला अब क्या उत्तर दे? वह सबके साथ चल दी ।

देवयोनि की सार्थकता इतनी है कि देवो को तीर्थङ्करो के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ मे न केवल सम्मिलित होने अपितु विभिन्न उत्सवो का आयोजन करने का सौभाग्य भी प्राप्त होता है। वर्धमान का अभिनिष्क्रमण हुआ तो देव उसमे सबसे आगे थे। उन्होने चन्द्रप्रभा' नाम की पालकी सजायी। वर्धमान को वस्त्राभूषण पहनाकर उसमे बैठाया और गाते-बजाते राजभवन से निकल पड़े। वे क्या निकले, सारा राजभवन ही सूना हो गया। राजकुटुम्ब, राज्याधिकारी, सम्भ्रान्त नागरिक, जिसने भी सुना वही उनके पीछे हो लिया।

मार्गशीर्ष शुक्ला १०वी (ई. पू ५६९) के दिन का चौथा पहर कुण्ड–ग्राम के लिए हर्ष और विषाद का प्रतीक बन गया। नागरिक भीड मे सम्मिलित थे, किन्तु उनकी समझ मे न आ रहा था कि वे अपने प्यारे राजकुमार के वनगमन, गृहत्याग पर दुखी हो अथवा मानव कल्याण जैसे कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित करने वाले इस सपूत पर फूले न समायें ? थोडी ही देर बाद उनके मोह पर उनकी सद्‌बुद्धि की विजय हो चुकी थी और उनकी जयघोषो से सारा राजमार्ग गूंज उठा।

उस क्षत्रिय कुण्डपुर के बाहर थोडी ही दूर पर 'ज्ञातखण्ड' नामक उद्यान था। चारो ओर हरा-भरा तथा पुष्प एव लताओ से रमणीक। उसी के एक कोने मे अशोकवृक्ष के नीचे वर्धमान की पालकी उतारी गयी। वह भूखण्ड वर्धमान के तेज से आलोकित हो उठा। विम्बधुओ ने आरती उतारी। देवताओ ने उत्सवो से जगल मे मगल कर दिया। वर्धमान अभी तक इस

आयोजन मे मौन भाव से सम्मिलित थे। जिसने जो कहा सो करते रहे। किन्तु उनका मन वीतरागता मे ही लीन था। उद्यान मे आते ही वे प्रमुदित मन से पालकी से उतरे और एक शिलाखण्ड पर, जिस पर स्वस्तिक अकित था, बैठ गये।

बिना किसी आकुलता के पल भर मे साथ आये जनसमूह से उन्होने विदा ली और इस ससार के बन्धनो से मुक्त हो गये। देह की शोभास्वरूप जो भी उपकरण थे— वस्त्र, आभूषण, केश उन्हे क्रमश उन्होने उतार फेका। पाच मुट्ठियो मे भरकर उतारे गये सिर के केश मानो प्रतीक थे। उस कर्मकालिमा के, जो पाच व्रतो के पालन से क्रमश धुल जाती है। वर्धमान का वस्त्र, आभूषणो से विमुक्त शरीर अपने असली स्वरूप मे आकर मानो कह रहा था कि ससार की प्रत्येक वस्तु को तब तक जानने का प्रयत्न करो जब तक उस पर कोई आवरण शेष न रहे।

इस प्रकार सिद्धो को नमस्कार कर उस शुभमुहूर्त मे वर्धमान पद्मासन मुद्रा मे आसीन हो गये। आत्मा की अनन्त गहराईयो मे विचरण करने लगे। उन्हे देख लगता था जैसे उन्होने प्रतीक्षित निधि पा ली है। जैसे कोई आत्म-सिन्धु का तलस्पर्शी अन्वेषक उसकी अतल गहराईयो से ज्ञान के मोती बटोर रहा हो। यह सब उस पद्मासन मुद्रा का ही प्रभाव था। भद्र! तुम सब जानते हो मूर्तिकला और चित्रकला मे इस पद्मासन मुद्रा को कितना महत्व-पूर्ण स्थान मिला है। क्योकि आत्मा से साक्षात्कार करने का यह प्रमुख साधन था। और महावीर की यात्रा इसके लिए ही थी।'

'आचार्यप्रवर! उस आत्म-अन्वेषक यात्री को सादर प्रणाम के साथ एक समाधान का आकाक्षी हू। क्या सचमुच इतने बडे राजपाट, धन-वैभव, सुख-सपदा और स्नेही परिवार का त्याग उन्होने पलभर मे कर दिया था? तनिक भी मोह नही हुआ उन्हे? फिर भी उन्हें 'महावीर' तो कहा गया, 'महात्यागी' नही'?

'भद्र चित्रागद! तुम्हारा सोचना ठीक है। बिल्कुल वैसा ही जैसा एक ससारी व्यक्ति सोच सकता है। महावीर को 'महात्यागी' नही कहा गया इसका गहरा कारण है। वास्तव मे उन्होने कुछ त्यागा ही नही। त्यागते तो वे हैं,

जिनके पास कुछ होता है । महावीर के चारो ओर जो कुछ वैभव, सुख-सम्पदा हमे दिखती है वह हमारे भोगी होने के कारण है । हम मे उन सब सासारिक वस्तुओ के सग्रह करने की लालसा है । इसलिए वे बडी कीमती दिखती हैं । और लगता है कि जिन वस्तुओ की प्राप्ति के लिए हम मर मिटते हैं, उन्हे महावीर ने कैसे त्याग दिया ? यह हमारी दृष्टि का भ्रम है, जिसे महावीर कब का तोड चुके थे ।

'महावीर दो कारणो से सासारिक सम्पदा के स्वामी नही थे । प्रथम, वे निर्भय थे, अत अपनी सुरक्षा के लिए उन्होंने किसी वस्तु का सग्रह नही किया । दूसरे वे यह भी जान चुके थे कि इन वस्तुओ की आत्मकल्याण के लिए कही कोई सार्थकता नही है । अत. ये मेरी नही हैं । यही भाव उनका परिवार के सदस्यो के प्रति था, राजभवन के प्रति था और जो भी उनसे अपने को सम्बन्धित मानता था उसके प्रति था । अत जिस प्रकार हम रास्ते मे मील के पत्थरो को छोडते हुए गन्तव्य की ओर बढते जाते हैं उसी प्रकार वर्धमान इन सब वस्तुओ के बीच निरपेक्ष भाव से गुजर गये । उनकी महावीरता भी किसी सर्प को पराजित करने अथवा कहीं पौरुष दिखलाने के कारण नही है, अपितु उन्होने मानवमन की उन वृत्तियो को जीता है, जो आत्मकल्याण के क्षेत्र मे आगे नही बढने देती । अत वे भोग को छोडने और त्याग को पकडने के कारण नहीं बल्कि दोनो स्थितियो मे आत्मस्वभाव के प्रति सजग बने रहने के कारण 'महावीर' हैं ।'

'भद्र श्रीकण्ठ ! कुछ दुविधा मे दिखते हो । नि सकोच चिंतन को गति दो ।'

'आचार्यप्रवर ! आप से क्या छिपा है ? महावीर वस्त्र त्यागकर दिगम्बर हो गये । पूर्ण अपरिग्रही होकर आत्मसाधना मे लीन । फिर भी उनके अनुयायियो की एक परम्परा यह क्यो मानती है कि कुछ दिनो तक वे वस्त्र धारण किये रहे, भले वह देवताओ के द्वारा दिया गया हो ?'

'बहुत अध्ययन किया है श्रीकण्ठ तुमने । तुम निश्चित रूप मे अपनी कला द्वारा मेरी कल्पना को साकार कर सकोगे । अभी जैसे मैंने कहा कि भोग मे पगी दृष्टि ने महावीर को भी सम्पत्तिशाली और वैभवशाली मान लिया और

फर उनका त्याग कराकर उन्हे अतिशय त्यागी स्वीकार कर लिया उसी प्रकार उन्हे निपट नग्न और सवस्त्र देखने वालो की भी अपनी दृष्टिया हैं। हो सकता है, जिन्होने उन्हे उस अखण्ड व्यक्तित्व पर खडे हुए देखा हो, जहा उघाडने के लिए कुछ बचा ही न हो। सब कुछ स्वच्छ, निर्मल, आकाश सा। आत्मा अलग और शरीर अलग। अब शरीर को सभारने वाला रहा ही कौन? अत उन्हे महावीर की काया प्राकृतिक रूप मे ही दिखायी पडेगी। और जिन लोगो की दृष्टि महावीर के व्यक्तित्व के विशेष गुणो के मूल्याकन मे ही तृप्त हो गयी होगी, उनकी आख महावीर की नग्नता तक पहुंची ही न होगी। महावीर जैसा महापुरुष नग्न कैसे होगा ? अत देवताओ द्वारा प्रदत्त वस्त्र का कथानक इनके साथ जुड जाना स्वाभाविक है। और जैसे जैसे महावीर की साधना सघन हुई वह देवदूष्य भी उनसे विलग हो गया। वास्तव मे महावीर किसी वस्तु को छोडने के प्रति आग्रही नहीं रहे, क्योकि उन्होने किसी को पकड ही न रखा था। उनकी साधना मे जब वस्त्र छूट गया जब भोजन छूट गया और जब स्वय शरीर का ममत्व तिरोहित हो गया वे छोडते चले गये। यही उनकी अनासक्ति की अभिव्यक्ति है। अपरिग्रह का विस्तार।'

'कहते हैं कि महावीर जैसे ही पद्मासन होकर ध्यानमुद्रा मे लीन हुए तथा पूर्णरूपेण श्रामण्य-जीवन व्यतीत करने का सकल्प किया, उन्हें मन पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। ऐसा ज्ञान, जिसके द्वारा दूसरे के अन्त करण के हलन-चलन को भी जाना जा सके। यह सकेत था, उस केवलज्ञान रूपी प्रकाश के प्रति समर्पित होने का, जिसकी उपलब्धि के लिए वर्धमान इस यात्रा पर निकल पड़े थे। धार्मिक जगत् मे आत्मोपलब्धि के लिए प्रारम्भ की गयी यह अनोखी यात्रा थी।'

'आचार्यप्रवर ! एक अनुरोध है मेरा। आज कथा को अब यही विराम दे दें। मेरा मन वर्धमान के साथ इस गुहा, इस उपत्यका से अभिनिष्क्रमण कर गया है। शायद इन कलाकार बन्धुओ का भी। हमे भी वैशाली के नागरिको, त्रिशला, सिद्धार्थ और राजभवन के उस विषाद मिश्रित हर्ष मे सम्मिलित होने दें, जिसे रगो के माध्यम से हमे इन दीवालो पर अकित करना है। और फिर आप भी तो क्लान्त हुए होगे गुरुदेव ! चलकर वेतवा के किनारे तक घूम

७. अभिव्यक्ति की खोज

आज शिल्पी-सघ गुहा के द्वार से थोडा हटकर एक मनोरम मैदान मे एकत्र हुआ था। प्रात काल की कुनकुनी धूप सब के वदन सेक रही थी। मैदान के एक छोर पर बडी शिला पर आचार्य कश्यप विराजमान थे। लगता था—गुहारूपी राजभवन से अभिनिष्क्रमण कर स्वय महावीर इस वनखण्ड मे ध्यानस्थ हो गये हैं। और अपने तपस्वी जीवन की, सत्य को प्रकाशित करने के माध्यम खोजने की कथा स्वय कह रहे हैं—

'कलाकार मित्रो! भगवान महावीर तीस वर्ष की अवस्था मे अब उस यात्रा पर निकल पडे थे, जहा से उन्हे ऐसी शक्ति प्राप्त करनी थी कि वे अपनी सत्य की अनुभूति को जनमानस तक पहुचा सकें। अत इस यात्रा मे वे इतने घूमे—फिरे कि छोटे से छोटा और वडे से बडा व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आया। तरह-तरह के अनुभव उन्हे हुए। अनेक कष्टो को उन्होने सहा। किन्तु यह सब कुछ उनके लिए कर्मों की निजरा का माध्यम था। इन सब घटनाओ के प्रति वे कृतज्ञ थे कि उन्होंने कर्मक्षय का उन्हे अवसर प्रदान किया। और उसकी उपलब्धि मे सहयोग, जिसके माध्यम वे जगत् को अन्धकार से प्रकाश मे ला सके।

महावीर केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व लगभग १२ वर्षों तक तपश्चर्या करते रहे। इस अवधि का सम्पूर्ण इतिहास किसी एक ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है। हो भी नही सकता था, क्योकि ये सब अनुभव महावीर के निजी थे। किन्तु कुछ घटनाओ के आधार पर, कुछ सकेतो की व्याख्या स्वरूप उनके इस जीवन को क्रमवद्ध रूप मे उपस्थित किया जा सकता है। यहा भी दोनो परम्पराओ मे प्रचलित मान्यताओ का सहारा लेना पडेगा। उन तथ्यो का, जो सत्य के द्वार तक पहुचने मे सहायक होगे। एक वात और ध्यातव्य है कि महावीर के इस तपस्वी जीवन मे जिन ग्रामो, नगरो, जनपदो व व्यक्तियो के नाम परम्परा से प्राप्त होते हैं, उन सभी को ऐतिहासिक सिद्ध नही किया जा सकता और

न आज इतने समय वाद उनकी पहिचान ही की जा सकती है। इतना अवश्य है, सयोग से कुछ का अस्तित्व अभी भी मिल जाय। दूसरे, यह सब आवश्यक भी नही लगता। क्योकि हमारा उद्देश्य महावीर के जीवन के उन सूत्रो को पकडना है, जिनसे जीवन मे प्रकाश की सम्भावना है। वे कहा से प्राप्त हुए उन स्थितियो को समझना है। उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना इतिहासज्ञो का कार्य है। इस प्राथमिक के साथ ही मैं आगे की कथा कह सकूँगा—

'एक मुहूर्त दिन शेप रहते महावीर उस वनखण्ड से निकल कर कमरिग्राम पहुचे और वही रात्रि व्यतीत करने के विचार से ध्यान मे खडे हो गये। वे साधना मे लीन थे अत पूर्ण रूप से जाग्रत। उन्हे नीद लेने की आवश्यकता ही नही पडी। कहते हैं, उसी दिन सायकाल किसी एक ग्वाले ने अपने वैलो की रक्षा का भार उन्हे सौंप दिया और वह कही कार्य से चला गया। लौटने पर उसे जब वहा वैल नही मिले तो उसने महावीर से पूछा। महावीर ध्यान मे मौन थे। अत उनके मौन के कारण उस ग्वाले का मन महावीर के प्रति शका से भर गया। उसने बहुत से पाखण्डियो को इस प्रकार का कार्य करते देखा था। अत वह खिन्न हो उन्हे रस्सी से मारने को प्रवत्त हुआ। तभी इस घटना के साक्षी इन्द्र ने उसे रोक लिया और महावीर का परिचय देकर उसे वहा से विदा किया। तदनन्तर इन्द्र ने महावीर से भी प्रार्थना की कि आपको इस साधनाकाल मे अनेक कष्ट झेलने होगे। अत मुझे आप अपनी सेवा मे रहने की आज्ञा दीजिए ताकि आपको ज्ञान की उपलब्धि निर्विघ्न हो सके। किन्तु तपस्वी महावीर ने इन्द्र को यह कह कर विदा कर दिया कि अर्हन्त अपने पुरुषार्थ और बल से ही केवल ज्ञान की स्थिति को प्राप्त होते हैं, किसी के सहारे नही। अत मैं अकेला ही साधनापथ मे विचरण करूंगा।

प्रात काल वहा से चल कर महावीर 'कोल्लाग' सन्निवेश मे पहुचे, जहा उन्होंने 'वहुल' ब्राह्मण के यहा क्षीरान्न से प्रथम पारणा की। वहा से विहार कर वे मोराक सन्निवेश मे पहुचे। वहा एक आश्रम के कुलपति ने उन्हे अपने यहा ठहरने का निमन्त्रण दिया। किन्तु महावीर वर्षावास मे वहा पुन आने की बात कहकर आगे चल दिये। विभिन्न स्थानो मे उन्होने शिशिर

और ग्रीष्म ऋतु मे साधना की तथा वर्षा के प्रारम्भ होते ही वे पुन उस आश्रम मे लौट आये। किन्तु कुछ समय व्यतीत होने पर ही उन्हे लगा कि आश्रम का वातावरण उनके अनुकूल नही है। अत वे वहा से भी चल पडे और शेष प्रथम वर्षाकाल उन्होने अस्थिक ग्राम मे पूरा किया।

अस्थिक ग्राम का प्रथम वर्षावास भगवान महावीर के तापस जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहा रहते हुए उन्होने आगामी भ्रमण के सम्बन्ध मे कुछ निर्णय लिये। ऐसे स्थानो पर ठहरने का निश्चय किया जहा ध्यान मे बाधा न पडे। महावीर ने मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा, क्योकि लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछकर उन्हे परेशान कर सकते थे। प्रश्नो का समाधान करना सरल था, किन्तु इससे आत्मध्यान मे बाधा पडती थी। गृहस्थो से कोई विशेष सम्बन्ध न रखने का उन्होने प्रयत्न किया।

कहा जाता है कि इसी ग्राम के परिसर मे शूलपाणि नामक व्यन्तर का एक चैत्य था। महावीर जब उसमे ठहरने के लिए गये तो ग्रामवासियो ने उस व्यन्तर देव की भयानकता और क्रूरता से उन्हे परिचित कराया। किन्तु वे उनकी आज्ञा लेकर उसी चैत्य के एक कौने मे ध्यान लगाकर खडे हो गये। शूलपाणि ने महावीर की इस निर्भयता को अपना अपमान समझा और साझ होते ही उसने अपने पराक्रम दिखाना प्रारम्भ कर दिये। भयकर हाथी, पिशाच एव विषधर नाग आदि के नाना रूप धारण कर वह देव उन्हे रात्रि भर कष्ट देता रहा। महावीर का तन आहत हो गया, किन्तु मन से वे पूर्ववत् ध्यान मे मग्न रहे। फलस्वरूप शूलपाणि का हृदय परिवर्तित हो गया। उसकी क्रूरता विदा हो गयी। ग्रामवासी इस घटना को देखकर महावीर की साधना के प्रति श्रद्धा से भर उठे।

मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को महावीर ने अस्थिक ग्राम से वाचाला की तरफ विहार किया। वाचाला जाने के लिए कनकखल आश्रम पद से होकर जाना पडता था। भगवान महावीर जिस मार्ग से गये उस मार्ग मे कही एक दृष्टिविष सर्प रहता था, जिसके नेत्रो से विष की ज्वालाए निकलती थी। यद्यपि गाव के ग्वालो ने महावीर को इस रास्ते से जाने को रोका था, किन्तु अभय और करुणा के धारक वर्धमान को इसकी क्या चिन्ता? वे उसी मार्ग

मे एक देवालय के समीप ध्यानारूढ हो गये । सायकाल जब सर्प अपने निवास स्थान पर लौटा तो इस निर्जन प्रदेश मे एक मानव को देखकर शकित हो उठा । उसने अनेक वार अपनी विपभरी दृष्टि से महावीर को भस्म करना चाहा । किन्तु जब सफल न हुआ तो उन पर झपट कर उसने उनके पैर के अगूठे मे काट खाया । उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने देखा कि महावीर के पैर से खून की जगह दूध निकल रहा है । जैसे ही उसने महावीर से दृष्टि मिलायी उसे सुनायी पडा—'समझ चण्डकौशिक ! समझ ।'

यह नाम सुनते ही उस दृष्टिविष सर्प का सब क्रोध जाता रहा । उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, जिसमे वह किसी आश्रम का कुलपति था और अपने कर्मों के कारण इस रूप मे जी रहा था । उसने महावीर के समक्ष प्रायश्चित किया और कुछ दिनो पश्चात् देह छोडकर स्वर्ग मे देव हो गया ।

महावीर के साथ घटित इन प्रसगो की अपनी अर्थवत्ता है । ऐसा लगता है कि महावीर की साधना का स्वरूप इतना अनोखा था कि उन्हे उस युग मे पहिचानना कठिन हो गया था । तत्कालीन सभी धार्मिक विचारक किसी न किसी मत के प्रतिपादक थे । उन्होने कुछ निश्चित चिन्ह पकड रखे थे । जो उनके अनुयायी थे वे उनकी सेवा करते थे और जो नही थे, वे किनारा काटकर अलग हो जाते थे । किन्तु महावीर के साथ यह दिक्कत थी । वे इतने वीतरागी हो गये थे कि साधारण लोग उनसे निकटता का अनुभव नही कर पाते थे । न तो ये किसी को सुख-सम्पदा की प्राप्ति कराते थे और न ही उनके कष्टो का प्रत्यक्ष निवारण करते थे । यही कारण है कि उन्हे अपरिचित-सा जानकर कभी कोई सता लेता था । कभी कोई प्रणाम कर लेता था ।

तपश्चर्या के इस साधनाकाल मे महावीर ने जो कठिन से कठिन रास्ता चुना है तथा लोगो के मना करने पर उन्ही स्थानो पर रात्रि मे ठहरे है, जहा किसी न किसी विघ्न की सम्भावना थी इसमे भी एक गहरा कारण है । वे यह जान लेना चाहते थे कि उनकी आत्मा प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी कितनी जागी हुई है ? उनके सम्पर्क मे आने वाली ऐसी आत्माओ पर उसका क्या प्रभाव पडता है ? साथ ही इन कथा-प्रसगो से महावीर के आन्तरिक गुणो को भी ग्रहण करने मे सुगमता होती है । साप के काटने पर उनके

पैर से दूध निकलना चमत्कार भले लगे, अतिशयोक्ति भी, किन्तु वह इस बात का प्रमाण है कि महावीर मे जीवो के प्रति अगाध ममत्व के भाव हैं। उनके साथ कोई कुछ भी करे, महावीर का प्रत्युत्तर करुणा ही होगा।

महावीर की साधना के इस दूसरे वर्ष की प्रमुख घटना है—मक्खलिपुत्र गोशालक का उनके साथ सम्बन्ध होना। कहा जाता है कि विहार करते हुए जब महावीर राजगिरि पहुचे और पास के उपनगर नालन्दा मे एक तन्तुवाय शाला मे वर्षावास किया तो उसी समय वही पर गोशालक नामक एक मख-जातीय युवा भिक्षु भी ठहरा हुआ था। महावीर के तप, ध्यान और आचरण आदि से गोशालक बहुत प्रभावित हुआ और उसने महावीर के शिष्य होने का निश्चय किया। किन्तु महावीर ने इसका कोई तत्काल उत्तर नही दिया। गोशालक निरन्तर उनके साथ लगा रहा।

एक बार कार्तिक पूर्णिमा का दिन था। भिक्षा-चर्या को जाते हुए गोशालक ने महावीर से पूछा—'आज मुझे भिक्षा मे क्या मिलेगा?' उन्होने उत्तर दिया—'कोदो के तन्दुल, छाछ और कूट रुपया।' गोशालक महावीर की इस भविष्यवाणी को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए उस दिन धनाड्य लोगो के यहाँ ही भिक्षार्थ गया। किन्तु वहा कुछ प्राप्त न कर सका। अन्त मे एक कर्मकार ने उसे भिक्षा मे वही दिया जो महावीर ने कहा था। इस घटना का गोशालक पर बडा प्रभाव पडा। वह सोचने लगा वही होता है जो पहले से निश्चित होता है। इस प्रकार वह नियतिवादी हो गया। अपने इस विचार को और अधिक पुष्ट करने के लिए वह आजीवको के उपकरण छोडकर महावीर का शिष्य बन गया और निरन्तर उनसे इस प्रकार के प्रश्न पूछता रहा।

नालन्दा से विहार कर महावीर अपनी साधना के तीसरे और चौथे वर्ष में कौल्लाग सन्निवेश, सुवर्णखल, ब्राह्मणगाव, चम्पा, कलायसन्निवेश, कुमारा, चोराक एव कपंगला आदि अनेक स्थानो पर भ्रमण करते रहे। गोशालक उनके साथ बना रहा। कभी वह पार्श्व-परम्परा के मुनियो से विवाद कर लेता तो कभी वैदिक परम्परा के साधुओ से। किन्तु महावीर उसे हमेशा समझाते रहते और आत्मध्यान का उपदेश देते थे।

इस प्रकार के भ्रमण मे महावीर को अनेक कष्ट झेलने पडे। कभी उन्हें कोई गुप्तचर समझकर पकड लेता तो कभी वे डाकुओ से घिर जाते। किन्तु महावीर कही प्रतिरोध न करते। उनकी इस मध्यस्थ वृत्ति के कारण एक ओर जहाँ तत्कालीन तपस्वियो को ईर्षा होती, वहाँ दूसरी ओर महावीर की साधना मे श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियो की भी सख्या बढती जा रही थी। कभी-कभार महावीर के पिता सिद्धार्थ के मित्र या परिचित लोग भी उनको मिल जाते। वे उनकी इस अपूर्व साधना को देखकर सिद्धार्थ के भाग्य को सराहने लगते।

महावीर ने अपने कष्ट निवारण के लिए किसी की सहायता नही ली। इसका भी एक कारण है। महावीर यह जानते थे कि जिस किसी के द्वारा मेरा शरीर सताया जाता है या जो मुझे उपसर्ग पहुचाने का प्रयत्न करते हैं, वे भले अपनी हानि कर रहे हो, किन्तु मेरा भला कर रहे हैं। उनके निमित्त से मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है। इस बात का गहन दर्शन है। यदि कोई किसी को सता रहा हो तो ऊपर से तो लगेगा कि वह व्यक्ति दुष्ट है। गलत काम कर रहा है। किन्तु इससे सताये जाने वाला उपकृत हो रहा है। उसके प्रति अपने कर्मों से अऋण हो रहा है। शायद यही कारण है कि एक दो प्रसगो को छोडकर महावीर ने अपने जीवन मे शारीरिक दृष्टि से किसी की सहायता नही की। भले उनके अन्तम् की करुणा इससे अधिक कार्य करती रही हो। किन्तु इस गहराई का चिन्तन तभी आ सकता है, जब व्यक्ति अपने पूर्वजन्मो की शृ खला मे जागृत होकर उतरे। महावीर ने अपनी साधना मे इसी का प्रयत्न किया है।

अनार्य देश राढभूमि मे विचरण कर महावीर ने अनार्य लोगो की अवहेलना, निन्दा, तर्जना और ताडना आदि को अनेक वार सहा। वे यदि किसी घर के बरामदे मे रात्रि मे खडे होकर ध्यान करने लगते तो लोग उन्हे चोर समझकर भगा देते। वे जब भिक्षा लेने किसी द्वार पर पहुचते तो दूसरे धर्म के साधु व भिखमंगे उन्हे धक्का देकर आगे सरका देते। किसी सराय आदि मे यदि वे विश्राम के लिए रुकते तो उनके कान्तिमय शरीर और तारुण्य की लालची स्त्रियाँ उन्हे परेशान करने लगती। किन्तु महावीर इन सबकी उपेक्षा करते

रहे। उन्हें मात्र अपना लक्ष्य दिखता था, मार्ग के कटक, कंकड नही। इसीलिए वे आगे बढते रह।

सावना के छठे वर्ष मे कूपिय ग्राम मे वैशाली की ओर जाने के लिए महावीर ने जब विहार किया तो गोशालक ने साथ चलने के लिए मना कर दिया। उसने कहा—'आपके साथ रहते हुए मुझे बहुत कष्ट उठाने पडते हैं। आप समर्थ होते हुए भी मेरी सहायता नही करते। इसलिए आपके साथ अब मैं नही चलूगा।' महावीर मौन रहते हुए आगे बढ गये। शालिशीर्ष ग्राम के उद्यान मे कटपूतना नामक व्यन्तरी ने महावीर पर घोर उपसर्ग किया। महावीर ध्यान से विचलित नही हुए। अत उनकी मन स्थिति क्रमश इतनी विकसित हुई कि उन्हे उसी समय 'लोकावधि' नाम का ज्ञान प्राप्त हो गया, जिससे वे लोक के समस्त द्रव्यो को साक्षात् जानने और देखने लगे। यहाँ से महावीर भद्दिया की ओर प्रस्थान कर गये। भद्दिया के चातुर्मास मे ६ माह तक इधर-उधर घूमकर गोशालक फिर आकर महावीर के साथ हो गया। किन्तु अभी तक उसने अपनी नियतिवादी विचारधारा को नही छोडा था।

कहा जाता है कि एक बार महावीर सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम जा रहे थे। वहा वैश्यायन नामक एक तापस से गोशालक का मतभेद हो गया। अत उस तापस ने तेजोलेश्या छोडकर उसे भस्म करना चाहा। तब महावीर ने तुरन्त शीतलेश्या छोडकर गोशालक को बचाया। तेजोलेश्या के प्रभाव से गोशालक बहुत प्रभावित हुआ और उसने महावीर से उसे प्राप्त करने की विधि पूछ ली। कुछ समय बाद, महावीर की साधना के दसवें वर्ष मे वह उनसे अलग हो गया। छ माह तक तप, आतापना आदि करके उसने तेजोलेश्या प्राप्त की, फिर निमित्तशास्त्र पढा। और इस प्रकार असाधारण शक्तियो का धारक होकर वह आजीविक सम्प्रदाय का स्वयं तीर्थङ्कर बन गया।

'इधर महावीर विभिन्न प्रकार के ध्यान करते हुए श्रावस्ती पहुचे, जहाँ उन्होने अपना दसवा वर्षावास किया। श्रावस्ती से कौसाम्बी, वाराणसी, राजगिरि, मिथिला आदि नगरो मे विहार करते हुए महावीर पुन वैशाली आये जहा उन्होने अपनी साधना का ग्यारहवा वर्ष पूरा किया।'

• •

८. जगत् के प्रति समर्पण

यहा तक की कथा कहकर आचार्य कश्यप क्षण भर के लिए रुके। वे कथा का सूत्र पकडना ही चाहते थे कि एक जिज्ञासु कलाकार पूछ बैठा—'आचार्यप्रवर ! आपने महावीर की साधना का विस्तार से वर्णन किया। वे कितना घूमे-फिरे यह भी बतलाया। किन्तु गुरुदेव ! महावीर को तो आत्मसाधना करनी थी। एक स्थान पर ध्यानस्थ होकर भी तो वे ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। तब इतना भ्रमण किसलिए ?'

आचार्य प्रश्न सुनकर थोडा मुस्कुराये। श्रोताओं पर दृष्टि डालते हुए वे समाधान की मुद्रा मे हो गये—'भद्र सागरदत्त ! तुमने प्रथम प्रश्न पूछा। किन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण। सामान्य-सी बात है, महावीर क्षत्रिय थे। राजा दिग्विजय करते ही हैं। अत उन्होने भी सोचा–मैं पदयात्रा द्वारा ही दिग्विजय लूं। है न सही बात ?' सारा शिल्पीसघ समाधान की सरलता का अनुभव करते ही एक-दूसरे की ओर देखते हुए हसने लगा। प्रश्नकर्ता को दुविधा में पडने का अधिक अवसर आचार्य ने नही दिया। वे गम्भीरता पर उतर आये–

'नही भद्र ! केवल ऐसा नही था। महावीर जैसी आत्माएँ कोई कार्य निरर्थक और सासारिक दृष्टि से नही करती हैं। महावीर के निरन्तर बारह वर्षों तक घूमते रहने और देश के इस छोर से उस छोर तक के लोगो के बीच विचरने का एक दूसरा कारण था। इसलिए मैं कहता हूँ कि उन्होने अपना घर नही त्यागा था, केवल उसके विस्तार को वे समझ गये। यह भवन, यह नगर, यह भूखण्ड, प्रदेश, देश कुछ भी उनका नहीं है, ऐसा कहना तभी सम्भव है, जब सारी धरती ही उनकी हो। जैसे कोई मकान मालिक भवन, बरामदे, प्रवेश कक्ष, शयनगृह, रसोईगृह आदि मे से किसी एक को पकडकर नही बैठ जाता, बल्कि पूरे भवन को अपना मानता है। उसी प्रकार महावीर अपनी साधना मे यह देखने निकले थे कि उनकी आत्मा का विस्तार कहा तक है इस

धरती के कितने भूभाग ने उनके अस्तित्व को स्वीकार किया है ?

'वास्तव मे महावीर का श्रमण जीवन की व्याख्या का सजीव रूप था। लोगो को आसक्ति और मोह समझ मे आ जाय, इसलिए वे पूर्ण अनासक्त और निर्मोही होकर घूमे। उनके द्वारा विभिन्न कष्टो को सहना और मौन रहना इस बात की उद्घोषणा करता था कि जो कष्ट पा रहा है वह कुछ और है, तथा जो शान्तखडा आनन्दित हो रहा है वह कोई और है। जीव-अजीव के इस भेदविज्ञान की मूक व्याख्या करने ही महावीर विचरण करते रहे। उनके विचरण से ही यह पता चलता है कि सद् एव असद्वृत्तियो का कहा टकराव होता है तथा असद् की पराजय और सद् की विजय के मूल मे क्या कारण है ? अत महावीर की विहार-यात्रा एक ससार है। स्वय महावीर जीव के प्रतीक। उनको कष्टो मे डालने वाले असद्वृत्तियो के प्रतिरूप तथा इन सब स्थितियों मे भी परम ज्ञान की उपलब्धि कर लेना आत्मा की पूर्ण-मुक्ति की सम्भावना का द्योतक है।'

'गुरुदेव ! सुन्दर व्याख्या की आपने महावीर की साधनामय यात्रा की। जितना जीवित प्रश्न उतना ही सशक्त समाधान। इस वातावरण मे मेरा मन भी तर्क पर उतर आया। क्षमा करें आचार्य ! महावीर अपने इस साधना काल मे अनेक बार वैशाली आये होंगे। अपनी जन्मभूमि के समीप। क्या कभी उनकी अपने माता-पिता से भेंट हुई ? और यदि हुई तो क्या अनुभव किया होगा ममतामयी त्रिशला ने, ज्ञानी सिद्धार्थ ने और स्वय महावीर ने ?'

'आयुष्मति कनकप्रभा ! तुम्हारे भावपर्ण चेहरे से लग रहा है कि तुम उस दृश्य से गुजर रही हो जब भगवान बुद्ध अपनी जन्मभूमि मे आये थे। उनके पिता, पत्नी यशोधरा एव पुत्र राहुल ने उनकी अगवानी की थी। कितना मार्मिक था वह दृश्य, जब पुत्र राहुल मा के कहने पर अपने पिता से दाय माग रहा था। इसके उत्तर मे बुद्ध ने उसे प्रव्रजित कर लिया था अपने सघ मे। दुखहारी यशोधरा एक बार फिर छली गई थी।'

देवी कनकप्रभा ! भगवान महावीर ने ऐसा कुछ नही किया। एक बार जिन वन्धनो से अपने को मुक्त किया सो किया। महावीर की यात्रा निरन्तर आगे बढ़ने की थी, पीछे लौटने की नही। अत वे जब भी वैशाली आये होंगे

उन्हे कुछ ऐसा नहीं लगा कि उनका कोई घर भी है। माता-पिता अथवा स्वजन भी हैं। वे इन सम्बन्धो से ऊपर उठ चुके थे। जहा तक उनके माता-पिता की अनुभूति का प्रश्न है, हो सकता है यदि ममता का बन्धन अधिक प्रबल रहा होगा तो वे महावीर के दर्शन करने गये हो। किन्तु इतिहास इस सम्बन्ध मे मौन है। एक सम्भावना यह भी लगती है कि महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे और अभी तक महावीर के धर्म का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था। अत उनकी ओर इनका कोई झुकाव ही न रहा हो। धार्मिक मामले मे उस युग मे अधिक कट्टरता का पालन होता था। श्रीकन्ठ! तुम्हे तो मालूम है, सम्भवत इन्ही प्रश्नो के कारण एक परम्परा मे महावीर के अभिनिष्क्रमण के पूर्व ही उनके माता-पिता की मृत्यु स्वीकार की गई है।'

'आचार्य! क्षमा करें व्यवधान के लिए। मुझे लगता है, हम तथ्यो की पकड मजबूत कर रहे हैं। इससे सत्य की व्याख्या अधूरी रह जायेगी। आपने महावीर की साधना की अभी विस्तार से बात की। अनेक उपसर्गों को उन्होंने सहा, रात्रि मे वे सोये नहीं तथा भोजन भी बहुत ही कम उन्होने किया, इत्यादि। किन्तु गुरुदेव! मात्र इतने के लिए तो महावीर का निष्क्रमण नहीं हुआ होगा? वे ध्यान के द्वारा क्या उपलब्ध कराना चाहते थे, क्या उन्हे मिला? मैं जानना चाहता हू।'

'प्रिय चित्रागद! तुम्हारी प्रज्ञा के अनुकुल है यह प्रश्न। महावीर निश्चय ही किसी अनुपम शक्ति, अलौकिक ज्ञान की खोज मे निकले थे। हम प्राय अपनी शक्ति और ज्ञान के पैमानो से नाप कर उनके व्यक्तित्व को छोटा कर देते हैं। कहते हैं—महावीर अहिंसक थे, त्यागी थे, क्षमावान थे आदि-आदि। ये गुण हमारे लिए महत्त्व के हैं। महावीर जैसी आत्मा तो इनसे ऊपर उठ चुकी थी। अत उनकी बारह वर्षों की साधना क्रोध और क्षमा, हिंसा और अहिंसा, त्याग और भोग आदि जैसे द्वन्दो से मुक्त होने की थी। वे दोनो स्थितियों मे द्रष्टा होने का प्रयत्न कर रहे थे। और वे इतने वीतरागी हो जाते थे कि शरीर की सामान्य क्रियाओ की उन्हें आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती थी। इसलिए वे निद्रा न लेते थे। भोजन न करते थे। फिर भी उनका

शरीर कान्तिमय एव स्वस्थ बना रहा। यह भौतिक आवश्यकताओ को कम करने का सबसे बडा उदाहरण था। इस बात का प्रतीक भी कि व्यक्ति यदि आत्मा के प्रति निरन्तर जागृत होता जाये तो कर्मबन्धन की अनेक क्रियाएँ स्वमेव तिरोहित होती जाती हैं।

'महावीर की साधना और ध्यान इस बात पर भी केन्द्रित था कि वे सत्य की खबर जीवन के जितने रूप और स्तर हैं उन सब तक पहुचा देना चाहते थे। जो उन्हे उपलब्ध हो रहा था उसे वे कण-कण मे वितरण करते जा रहे थे। यही कारण है कि कथाग्रो, प्रसगो मे देव, मानव, व्यन्तर पशु, पक्षी, सज्जन, दुर्जन सभी प्रकार के जीव महावीर के सानिध्य से कृतार्थ हुए हैं। अत आत्मिक जागरण की ओर प्राणी जगत् को आकर्षित करना महावीर की साधना का प्रतिपाद्य था। उन्होने विभिन्न प्रकार ध्यानो द्वारा स्वय पूर्ण जागरण की उपलब्धि की है। उनके केवलज्ञान प्राप्ति के प्रसग को कहने के पूर्व उनके अन्तिम वर्ष की साधना से आप सबके साथ और गुजरना चाहूगा। एकाग्र हो सुनें।'

'साधना के १२वें वर्ष मे महावीर मेढिय ग्राम से वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी पधारे। सारी नगरी उनकी अगवानी के लिए उमड पडी। जो भीड मे पीछे भी रह गए तो उनका मन सबसे आगे बन्दना करने दौड रहा था। महावीर के उस नगर मे प्रवेश करते ही उसकी शोभा वढ गई। प्रत्येक नागरिक महावीर के सानिध्य के लिए आतुर था। क्योकि उस समय तक महावीर की समतामयी दृष्टि एव निरहकारी भाव पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। उनके चरणो से अपने आगन को पवित्र करने की हरेक के मन में आकाक्षा थी। महावीर नासाग्र दृष्टि किए चलते जा रहे हैं। वे आगे-आगे और जनसमुदाय उनका गुणगान करते हुए पीछे-पीछे। जिस मार्ग मे वे निकल जाय वही के प्रासादो के वातायन खुल पडते। देखने लगते हजारो नेत्र उनकी कान्तिमयी मनोरम छवी को।'

किन्तु यह क्या? महावीर ने समस्त कौशाम्बी का भ्रमण कर लिया और किसी एक के घर भी आहार ग्रहण नही किया? जैसे ही लोगो का ध्यान इस तरफ गया, बात कानो-कान सारे नगर मे फैल गयी। आमन्त्रणो का ढेर लग

गया। श्रावको, सार्थवाहो, श्रेष्ठिपुत्रो, सामन्तो के झुण्ड के झुण्ड उनके चरणो मे लौटने लगे। किन्तु महावीर ने किसी की ओर आख उठाकर भी नही देखा। उनकी वीतरागता और ध्यान की वात तो सुनी थी लोगो ने, लेकिन इस प्रकार भ्रमण करते हुए उनके अनुपस्थित होने का दृश्य उस दिन ही लोगो ने देखा। कितना अद्भुत ? कितना चिन्ताजनक ?

कौशाम्वी के राजा से न रहा गया। वह दौडा आया। उसने महावीर की अगवानी की। राजभवन मे भोजन के लिए उन्हे आमन्त्रित किया। किन्तु महावीर है, जो सौम्य मुद्रा मे आगे चले जा रहे है। इतने मौन कि लोग उनकी आकाक्षा की कल्पना भी न कर सके और हताश उन्हे जाता हुआ देखते रहे। महावीर नगर से निकलकर समीप के उद्यान मे जाकर ध्यान मग्न हो गये।

इधर नगर मे तरह-तरह की वातें। जो श्रमण परम्परा के अनुयायी थे, महावीर के श्रद्धालु, उन्हे अपनी धार्मिकता पर सन्देह होने लगा। दुख इस वात पर कि उनके घर से अतिम तीर्थङ्कर आज भूखे लौट गये। तथा जो ब्राह्मण परम्परा के अनुयायी या अन्य तीर्थक थे, उन्हे यह कहने का अवसर मिल गया कि देखा—जैन साधु कितने मानी होते हैं ? महावीर ने हमारे राजा तक का निमन्त्रण नही माना। कुछ लोग यह खोजने मे लग गये कि नगर मे अवश्य कोई ऐसा अपुण्यशाली व्यक्ति है, जिसके प्रभाव से आज महावीर की पारणा मे विघ्न आ गया।

नगर सेठ वृषभानु की सेठानी तो और भी चिन्तित। उसे लगा कि उसके भवन के पिछवाडे तलघर मे जिस कुमारी चन्दना को उसने अपनी सौत समझकर वाधकर डाल रखा है, उसी के पाप के कारण महावीर उसके घर मे तो क्या, उसकी रथ्या तक मे नही आये। उनके दर्शन से भी वह वचित रह गयी। किन्तु उसने तुरन्त निश्चय किया कि अव मैं ध्यान रखूगी कि महावीर इस ओर न आ जाय अन्यथा उन्हें फिर भूखा लौटना पडेगा। और उसने अपना प्रवन्ध पूरा कर लिया।

राजकुमारी चन्दना क्या सोच रही थी, उसे शब्दो मे कहना कठिन है। उसे याद आ रहा था कि वह राजा चेटक की छोटी पुत्री होने पर भी भाग्य,

के कारण शत्रुओ के हाथ पड गयी। वहा से किसी प्रकार छूटी तो सेठ कृषभानु उसे पुत्री बनाकर घर पर ले आये। उसे लगा दूसरा पिता ही उसने पा लिया है। किन्तु उसका अप्रतिम रूप उसका वैरी बन बैठा। सेठानी ने सौतिया ढाह के कारण अवसर देखकर उसे बेडी पहिना दी और इस तलघर मे डाल दिया। अब सूप मे रखे इन कोदो के भोजन से ही उसका जीवन है। बाहर की दुनिया कैसी है, उसे कोई खबर नही। पता नही वह कब मुक्त होगी ?

दूसरे दिन कौशाम्बी मे फिर वही जमघट और महावीर के निराहार लौट जाने पर वही विषादपूर्ण नीरवता। धीरे-धीरे यह एक क्रम बन गया। महावीर जब तक उस प्रदेश मे रहे, खाली हाथ लौटते रहे। इधर-उधर विहार करने भी चले गए तो किसी नगर मे उनकी पारणा न हो सकी। लोगो ने उनको भोजन कराने के अनेको प्रयत्न कर लिए। श्रमण-परम्परा मे साधु द्वारा आहार के लिए जो भी अभिग्रह लिए जाते थे उन्हे पूरा करने का प्रयत्न कर लिया गया। किन्तु सब विफल। और इस प्रकार महावीर को निराहार भ्रमण करते हुए लगभग पाच माह व्यतीत हो गए। उनके मौन, उनके ध्यान एव मुख पर वही सौम्यता देखकर लोग आश्चर्यचकित थे।

छठा माह पूरे होने मे मात्र पाच दिन रह गए। महावीर दैनिक क्रम मे कौशाम्बी नगरी के मार्गो का भ्रमण कर रहे थे। जनसमुदाय उनकी जय-जयकार करता हुआ उनका अनुगमन कर रहा था। किसी ने सेठ कृषभानु की गली का मार्ग प्रशस्त किया। महावीर उधर चल पडे।

तलघर मे राजकुमारी चन्दना को कोलाहल सुनायी पडा। स्पष्ट होने पर ज्ञात हुआ महावीर इधर आ रहे हैं। वह आनन्द से उछलना चाहती थी उनकी वन्दना करने के लिए। किन्तु सोचने लगी—'मैं उन्हे आहार मे क्या दूगी ? एक तो मेरी ऐसी दशा और दूसरे ये सूखे कोदो के दाने ? ऐसा मेरा पुण्य कहा ?' तभी उसे लगा कि महावीर तो इस भवन की ओर ही आ रहे है। वह उनके प्रति श्रद्धा से भर गयी और उन्हे देखने उत्साह से जैसे ही उठी उसकी बेडियो की कडिया टूट गयी। वह सूप मे पडे कोदो को लेकर ही दरवाजे की ओर भागी। देखा महावीर उसी की ओर शान्तभाव से चले आ रहे हैं।

चन्दना का रोम-रोम नाच उठा। वह आगे बढी। भक्तिपूर्वक उसने वर्धमान की अगवानी की। उन्होंने उसकी विनय को स्वीकार कर लिया और दोनो हाथ भोजन लेने की मुद्रा मे कर दिये।

यह एक अपूर्व दृश्य था। हजारो नर-नारी अपने नयनो को सार्थक कर रहे। देख रहे थे कि चन्दना महावीर के हाथो मे कोंदे डाल रही है, वे खीर बनते जा रहे हैं। महावीर दोनो स्थितियो मे प्रसन्न हैं। चन्दना आत्मशक्ति मे भरती जा रही है। उसे लग रहा है कि जितने दाने कोदे वह दे पा रही है उससे असख्य गुणा ज्ञान उसमे समाहित होता जा रहा है। पता ही नही चल रहा कि वह महावीर को आहार दे रही है या उनसे ज्ञान का आहार ले रही है। महावीर आहार लेकर वहा से कब चल दिये किसी को पता नही चला। क्योंकि सभी चन्दना के भाग्य की सराहना मे खो गये थे। चारो ओर उसकी कीर्त्ति ही उपस्थित थी। बहुत दिनो बाद एक भारतीय नारी का फिर सम्मान हुआ था। उसके शील का। उसकी प्रभु को समर्पित श्रद्धा का। वृषभानु सेठ की पत्नी चन्दना के चरणो पर नत थी और चन्दना उसके द्वारा दी गयी बेडियो की कृतज्ञ थी, जिनके आशीर्वाद से आज वह आत्मबोध के द्वार पर खडी हो सकी है। सेठ वृषभानु इस सब अप्रत्याशित को देखता हुआ महावीर की चरण-रज को बटोरने मे लगा था। आज वह कृतार्थ हो गया।'

लोग जब यथार्थ पर लौटे, परस्पर विचार-विमर्श हुआ, ज्ञानियो ने अपनी बुद्धि को पैनी किया तब यह जान पाया कि महावीर को इतने समय तक आहार इसलिए नही मिला, क्योंकि उनका अभिग्रह था--'मुण्डितसिर, पावो मे बेडियो सहित, तीन दिन की भूखी, दासत्व को प्राप्त हुई कोई राजकुमारी यदि कोदो के दाने सूप मे रखकर द्वार पर खडी हुई मुझे आहार के लिए अवगाहन करेगी तो पारणा करूंगा, अन्यथा नही।' किसके वश मे था यह अभिग्रह पूरा करना? धन्य हो राजकुमारी चन्दनबाला को, जिसने हमे, हमारी नगरी को यह सौभाग्य प्रदान किया है।'

'और आचार्यप्रवर! हमारा सौभाग्य है कि आप के मुख से सुनकर हम भगवान महावीर की कथा को अपने सामने घटता हुआ देख रहे हैं। उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा के साथ एक छोटा-सा प्रश्न है। मैने सुना है कि १२ वर्ष की

साधना मे महावीर ने केवल ३४९ दिन ही आहार लिया। इतने दिनो तक विना भोजन के वे कैसे रह लेते थे ? और इतने कठिन से कठिन अभिग्रह करने की उन्हे क्या आवश्यकता थी ? जिज्ञासावश ही पूछ रहा हू-गुरुदेव !'

'वत्स श्रीकण्ठ ! तुम्हारी विनम्रता और उत्कठा से मैं परिचित हूं। और तुम मेरी समाधान की शैली से। अत उतना ही ग्रहण करना जो तुम्हें रुचिकर हो। तुम्हारी कला को सार्थक। भोजन से हमारा गहरा सम्बन्ध है। इसलिए हम सोचते है कि महावीर इतने दिन विना भोजन के कैसे रह गये ? वस्तुत महावीर ने भोजन छोडने के लिए कोई प्रयत्न नही किया। उनसे अनायास भूजन छूट गया। उनकी साधना की यह उपलब्धि थी कि उनके शरीर को अव स्थूल भोजन की आवश्यकता नही रह गयी थी। शरीर को जिन कारणो से भूख लगती है, वे कार्य प्राय विसर्जित हो चुके थे। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योकि महावीर की उपस्थिति शरीर मे बहुत कम ही रहती थी। मुझे तो लगता है, जितने दिन उन्होने आहार लिया उतने दिन ही वे शरीर के हो सके। अन्यथा हमेशा वे आत्मा के समीप रहे। आत्मा के साथ इस निकटता के कारण ही सम्भवत वे अपने उन दिनो को 'उपवास' का दिन कहते थे। दूसरी वात यह भी प्रतीत होती है कि भोजन करना एक बडे आरम्भ के साथ जुड जाना है। न जाने कितने जीवो के कायिक और मानसिक घात-प्रतिघातो का इसमे भागीदार वनना पडता है। महावीर की अहिंसा बहुत गहरे तलो तक उतरी थी। अत' वे ऐसे सूक्ष्म भोजन से ही काम चला लेते थे, जिसमे कम से कम आरम्भ हो।

अभिग्रह धारण करने के पीछे भी यही भावना निहित दिखायी देती है। इतनी कठिन प्रतिज्ञा लेने से शायद ही भोजन का सयोग बैठे। ऐसे जितने दिन भी गुजरे वे महावीर के लिए उपयोगी होते थे। अभिग्रह लेने के मूल मे दूसरा प्रमुख कारण यह था कि अपनी प्रतिज्ञाओ के द्वारा महावीर यह जान लेना चाहते थे कि उनकी जगत् के लिए कितनी आवश्यकता है ? इस जन्म मे वे स्वय के लिए कुछ पाने व करने नही आये थे। जो कुछ उन्हे उपलब्ध था, उसे वितरित करने की उनकी यात्रा थी। अत वे यह देख लेना चाहते थे कि उनके जीवन को सुरक्षित रखने मे जगत् का वातावरण कितना

सजग है ?

'महावीर कभी-कभी अभिग्रह ले लेते थे कि जिस घर के सामने दो बैल खडे होगे, द्वार पर चम्पक पुष्पो का वृक्ष होगा तथा कोई सुहागिन पूर्ण कलश लिए खडी होगी वही भोजन करूगा। अब इन स्थितियो से उनकी साधना व ध्यान का कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु उनका यह अभिग्रह यदि पूरा होता है तो उसका अर्थ है कि वनस्पति, पशु-जगत् एव मानव का समन्वय प्रयत्न महावीर को जीवन देने के लिए उत्सुक है। इसकी दूसरी अन्विति यह है कि महावीर का हृदय जीवन के निम्न से निम्न तल तक विकसित हो चुका था, जहा उसके स्पन्दन के अनुरूप व्यवस्था करने मे होड लग जाती थी। जीवन के प्रति इतनी अनासक्ति, जीवैपरण के प्रति इतना अभय और जगत् के जड-चेतन पदार्थों की व्यवस्था के प्रति इतनी निश्चिन्ता महावीर जैसी विकसित आत्माए ही कर सकती है। सम्पूर्ण जगत् महावीर का घर हो गया था एव समस्त प्राणी उनके स्वजन। इस वात की घोपणा करते हैं—उनके भोजन के निमित्त लिए गये कठिन से कठिन अभिग्रह।'

एक वात और आपको वता दू। जिस प्रकार महावीर अपने भोजनादि आवश्यकताओ के लिए जगत् पर निर्भर थे उसी प्रकार वे अपने जीवन की सुरक्षा के प्रति भी निश्चित थे। आपको ज्ञात होगा कि उनके इस साधना काल मे जव भी उन पर कोई उपसर्ग हुआ, उन्हे सताया गया तो इन्द्र ने आकर उनसे आज्ञा चाही कि वह उनकी रक्षा मे सहायक हो। किन्तु महावीर ने उसकी सहायता को स्वीकार नही किया। महावीर की इस निडरता की परीक्षा के लिए सगमक नामक एक देव लगातार छह माह तक उन्हे अनेको कष्ट देकर उनको विचलित करने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु अन्त मे हार कर भाग गया।

इस प्रकार की जितनी भी कथाए महावीर के जीवन के साथ सम्बद्ध हैं, उनकी अच्छी निप्पत्तिया हैं। इससे ज्ञात होता है कि महावीर का चित्र इतना शक्तिशाली था कि उसे साधना मे किसी दूसरे की अपेक्षा नही थी। महावीर अपनी इस अन्तर्यात्रा मे चूकि नि संग होकर अकेले चल सके, इसलिए समस्त जगत् उनका हो गया। उन्होने यह प्रमाणित कर दिया कि सच्चा साधु वही

है, जो असुरक्षा और अव्यवस्था मे अकेला खडा हो सके। जगत् को उसके अस्तित्व की आवश्यकता होगी तो उसकी सब व्यवस्थाए हो जायेगी। इन देवताओ से महावीर की बात-चीत हुई हो या नही, यह अधिक महत्वपूर्ण नही है। काम की बात इसमे यह ध्वनित होती है कि महावीर की साधना एव लक्ष्य इतना कल्याणकारी था कि उसकी सुरक्षा के लिए ससार की सभी शुभ शक्तिया उनका साथ देने को तैयार थी। पूर्णतया अकेले खडे हो जाना सत्य की खोज मे महावीर जैसे व्यक्तित्व द्वारा ही सम्भव है। आकाक्षाहीन ससार के विसर्जन की यह अद्भुत घटना थी।

○○

६. परम ज्योति का उदय

'महावीर अपनी साधना के बारह वर्ष समाप्त कर अभी भी ग्राम-ग्राम, नगर-नगर विचरण कर रहे थे। जहा से वे गुजर जाते वही लोगो को प्रेम, शान्ति और सुख का अनुभव होने लगता। वहा की भूमि निरापत और निराकुल हो जाती। महावीर के मुखमण्डल पर अब ज्ञान की विचक्षण आभा विकीर्ण होने लगी थी। वीतरागता गहन होती जा रही थी और कर्म का कलुष अन्जुलि के जल की भाति चुकता जा रहा था। अत. आत्मा के आवरण शिथिल होते जा रहे थे। निर्मलता का उन्मेष हो रहा था। आत्मा की प्राची से ज्ञान की परम ज्योति का उदय सन्निकट था।

मध्यमा नगरी के उद्यान से महावीर आत्म-शुद्धि के अन्तिम चरण मे विहार करते हुए जृम्भिका गाव के समीप पहुचे। उनके दर्शन को सारा गाव उमड़ पडा, किन्तु वे आगे ही बढ़ते गये। वे गाव के समीप ऋजुबालुका नदी के तट पर जाकर रुके। वहा पर स्थित एक देवालय के समीप सालवृक्ष के नीचे महावीर गोदोहन आसन मे परमशान्त मुद्रा लिए ध्यान मे लीन हो गये। वैशाख शुक्ला दशमी की शुभ तिथि (५५७ ई. पू) थी। अपराह्न का अन्तिम प्रहर था। महावीर की तपश्चर्या को बारह वर्ष पाच मास एव पन्द्रह दिन हो चुके थे। ऐसी शुभ घडी मे उनकी आत्मा विशुद्ध वीतरागता की ओर अग्रसर होने लगी। उस पर से कर्म के आवरण उतरने लगे और ज्ञान-ज्योति की प्रखर रश्मिया इधर-उधर आभा विकीर्ण करने लगी। धीरे-धीरे मोहनीय आदि चार घातिया कर्मों का क्षय कर महावीर पूर्ण अर्हन्त बन गये। उस समय एक ऐसे आत्मसूर्य का उदय हुआ, जिसका न कभी अस्त होना था और न क्षय। महावीर इस परम ज्ञान ज्योति की उपलब्धि से आनन्दित थे। उनके चित्त की प्रसन्नता और निर्मलता ऋजुकूला के तट के आस-पास व्याप्त हो गयी। महावीर केवलज्ञानी हो गये, इस बात की सूचना क्षण भर मे सर्वत्र प्रसारित हो गयी।

'केवलज्ञान' शब्द आपके लिए परिचित हो सकता है, किन्तु इसकी जो स्थिति है, उस तक पहुचने के लिए साधना की आवश्यकता है। विशुद्ध चित्तदशा की। केवलज्ञानी हो जाने का अर्थ है—मात्र ज्ञान के धर्ना होना। अर्थात् जहा केवल जानना रह जाता है, करना नही। उस स्थिति मे की जाने वाली क्रियाए आकाक्षारहित होती हैं। अत उनसे कर्मबन्धन की परम्परा अवरुद्ध हो जाती है। कर्मबन्धन और उनसे मुक्ति आदि के सम्बन्ध मे महावीर की क्या दृष्टि थी, इस पर बाद मे चर्चा करू गा। पहले मैं चाहता हू कि आपको महावीर के तीर्थङ्कर जीवन के सम्बन्ध मे कुछ बतलाऊ।'

'आचार्यप्रवर! हम महावीर के जीवन की आगे की कथा बडे उत्साह से सुनेंगे। अभी आपने उनके केवलज्ञान प्राप्ति की बात कही है। अपूर्व रहा होगा वह क्षण। गुरुदेव! आपने कहा कि महावीर जब ध्यान मे लीन हुए तो वे गोदोहन आसन मे बैठे थे। ज्ञान की उपलब्धि के लिए इस प्रकार के विशेष आसन की क्या आवश्यकता थी? अधिकतर महावीर खडे-खडे ही ध्यान किया करते थे, ऐसा हमने सुना है?'

'भद्र चित्रागद! तुमने ठीक सुना है। महावीर इसलिए प्राय कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यान किया करते थे क्योकि इससे उनका चित्त अधिक जागृत रह सकता था। प्रमादी होने की कम सम्भावना थी। निद्रा आने की आशका नही रहती थी। ध्यान के लिए इस प्रकार की एकाग्रता और सजगता आवश्यक होती है। यद्यपि तुमने गुप्तकाल मे बनी तीर्थङ्करो की मूर्तियां देखी होगी, जो प्राय पद्मासन मुद्रा मे हैं। यह भी ध्यान की एक मुद्रा है। किन्तु महावीर का प्रत्येक कार्य निराला था। अत वे कायोत्सर्ग मुद्रा में भी ध्यान करने के अभ्यासी हो गये थे।

तुमने उनके केवलज्ञान प्राप्त करने वाली मुद्रा गोदोहन आसान की सार्थकता जाननी चाही है। इस सम्बन्ध मे स्वय महावीर ने क्या सोचा था, उनका चित्त कैसा था इसे यथार्थरूप मे तो मैं नही कह सकता। किन्तु उनकी सम्पूर्ण साधना और प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर ध्वनित अर्थ को खोजा अवश्य जा सकता है। क्योकि महावीर की छोटी से छोटी क्रिया भी कोई न कोई सन्देश लिये होती है।

महावीर निरन्तर पर्वत पर, जगल मे, वर्षा मे, धूप मे, शीत मे रहे हैं। न कोई घर, न कोई द्वार। न बैठने के लिए कोई आसन और न सोने को शैया। हो सकता है जगल मे या निर्जन स्थान मे वे हमेशा उकडू (गोदोहन आसन) ही बैठते रहे हो और इस आसन के अभ्यास ने उन्हे ध्यान मे बडी सहजता प्रदान की हो। दूसरी बात यह कि महावीर की यह निरन्तर चेष्टा रहती थी कि उनके माध्यम से किसी जीव की हिंसा न हो। इसीलिए वे एक ही करवट लेटते थे। और इसी धारणा के कारण पृथ्वी पर कम से कम दबाव डालने के लिए उन्होने गोदोहन आसन को ध्यान के लिए चुना होगा। अद्भुत है उस आदमी की सवेदना। धरती से उसका मात्र दो पंजो का सम्बन्ध रह गया, इतना ऊपर उठ गया था वह। तीसरा कारण इस आसन मे ध्यान करने का यह था कि इसमे तन्द्रा व निद्रा आने का प्रश्न ही नही है। उकडू बैठकर कौन सोयेगा ? अत महावीर ध्यान मे जो पूर्ण सजगता बनाये रखने की बात कहते हैं उसका फल उन्होने इस आसन मे ध्यान करके प्रगट कर दिया। पूर्णजागृति के कारण ही वे आत्मनिष्ठ हो सके और परम ज्ञान के धारक।'

मैंने आपसे पहले कहा था कि महावीर एक परम्परा मे जन्म लेकर भी स्वतन्त्र पथ के निर्माता थे। वे किसी का अनुकरण नही करना चाहते थे। भले वह शरीर की आकृति का ही अनुकरण क्यो न हो। वे सम्भवत इस बात को समझ गये थे कि यदि शरीर की परम्परागत गतिविधियो को बदल दिया जाय तो चित्त की परम्परागत अवस्थाओ मे भी अन्तर आ जाता है। शायद ही कोई कभी उकडू आसन मे बैठकर ध्यानस्थ हुआ हो। महावीर ने इस आसन मे बैठकर अपने चित्त को पुराने सभी सम्बन्धो से इतना मुक्त कर लिया कि वे मात्र ज्ञानस्वरूप रह गये। ध्यान की इस अवस्था द्वारा उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मुक्त होने के लिए व्यक्ति को जितनी मौलिक होने की आवश्यकता है, उतनी ही परम साहसी होने की भी। यह घटना इस बात का सकेत है कि व्यक्ति यदि अप्रमादी और एकाग्रचितक है तो वह किसी भी आसन मे, जो उसके अभ्यास के अनुकूल हो, क्षणभर मे मुक्त हो सकता है। उसे परम्परामुखी होने की आवश्यकता नही है। भद्र श्रीकण्ठ! यह मत्र मैं

महावीर के मौलिक व्यक्तित्व और स्वतन्त्र चिन्तन को अभिव्यक्त करने के लिए ही कह रहा हूँ, इससे अन्यथा न लेना।'

'गुरुदेव! आपकी कृपा से इतना मैं भी समझने लगा हूँ कि किसी भी परम्परा की सार्थकता उस नाव की भाति ही है जो इस पार से उस पार तक पहुचा देती है। बाकी पद यात्रा तो स्वय ही करनी पडेगी। ठीक महावीर की तरह निर्भय होकर।'

'भद्र! तुमने पढा ही नही, गुना भी है। अब उसको अभिव्यक्त करना ही शेष है, सो अपनी कला द्वारा करोगे ही। देख रहे हो कलाकारो! वह पश्चिम मे अस्ताचल को जाता हुआ अंशुमाली कितना निस्तेज, लुटा-लुटा-सा। ऐसे ही विलीन हो गया था महावीर के कर्मपरमाणुओ का पुंज। बिखर गयी थी मोह और राग-द्वेष की शृंखला। और अब जो उन्हे प्राप्त हुआ था उसे वे बिखेर देना चाहते थे समस्त जड-चेतन के समक्ष। महावीर की उदारता है कि उन्होने १२ वर्षों के कष्टदायी समय मे जो कुछ भी ग्रहण किया उसे वे तीस वर्ष तक हस-हसकर लुटाते रहे। इस तीस वर्ष के तीर्थङ्कर-जीवन की कथा कल कहूँगा। उसमे आप गुजरेंगे उनकी प्रथम देशना मे, प्रमुख शिष्यो के बीच, चतुर्विध सघ के आगन मे तथा उन हजारो दीक्षित व्यक्तियो के साथ, जिन्होने अन्य मत-मतान्तरो के चक्रव्यूह को तोडकर जिनशासन मे आकर मुक्त सासें ली हैं।—आयुष्मति कनकप्रभा! अब मुझे मुक्ति दें।'

'आचार्यप्रवर! पुरुष की नारी से मुक्ति मागने की आदत अभी गयी नही। मेरा बन्धन ही कितने क्षणो का है? गुरुदेव! कथा को विराम देने की आज्ञा शिरोधार्य है।'

क्षणभर मे शिल्पी-समुदाय बिखर गया, कनकप्रभा की प्रगल्भता पर विचार-विमर्श करते हुए। और वह स्वयं आक रही थी अपने कथन की प्रतिक्रिया को आचार्य के गम्भीर चेहर पर। आचार्य चिंतन मे थे कि उनके अन्तेवासी महावीर के व्यक्तित्व की मौलिकता और चिंतन-स्वातन्त्र्य को कितना ग्रहण कर रहे हैं? कितनी अभिव्यक्ति वे प्रस्तुत कर सकेंगे गुफा की इन सूनी दीवारो पर? जन-मानस की सपाट चित्तभूमियो पर? यह सब सोचते हुए आचार्य विश्राम मे चले गये।

• •

१०. समवसरण

उदयगिरि की गुफाओ के आस-पास भगवान महावीर के केवलज्ञान-प्राप्ति की कथा कई दिनो तक कही जाती रही। आचार्य कश्यप महावीर के व्यक्तित्व का जितना सूक्ष्म एवं विभिन्न दृष्टिकोणो से अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते थे, उनके जिज्ञासु श्रोता विभिन्न प्रश्न उपस्थित कर उसे और सूक्ष्म एव हृदयग्राह्य बना देते थे। महावीर के तपस्वी-जीवन सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नो का समाधान करते हुए आचार्य ने पुन कथासूत्र सम्भाल लिया।

प्रात काल होने को था। प्राची की कोख से अशुमाली जन्म ले रहा था। धीरे-धीरे अन्धकार विसर्जित हुआ। क्षण भर बाद वेतवा के किनारे की वे पहाडिया सूर्य की आभा मे भासमान हो उठी। लगता था—महावीर का केवलज्ञान साकार हो रहा है। गुफा के उसी विस्तृत खुले मैदान मे शिल्पी-सघ एकत्र था। आचार्य अपने आसन पर विराजमान थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो भगवान महावीर की प्रथम देशना की न केवल कथा सुनी जा रही है, अपितु उस ऐतिहासिक दृश्य को मचस्थ भी किया जा रहा है। नेपथ्य मे नाट्याचार्य की तरह आचार्य कश्यप का स्वर गूज उठा—

'महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, यह समाचार चहुदिश फैलता हुआ जब इन्द्र को ज्ञात हुआ तो उसके हर्ष की सीमा न रही। उसने अपने कोषाध्यक्ष कुबेर को बुलाया। ऋजुकूला के तट पर विशाल सभामण्डप बनाने का आदेश दिया। इन्द्र की अभिलाषा थी कि तीर्थङ्कर महावीर की वाणी का प्रसार अधिक से अधिक हो सके। ससार के सभी प्राणी उनकी देशना से आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो सकें। इसलिए इन्द्र ने कुबेर को एक ऐसी योजना सभामण्डप की रचना के सम्बन्ध मे प्रस्तावित की, जिसमे सभी प्रकार के प्राणियो के बैठने की व्यवस्था हो। कुबेर ने इन्द्र की कल्पना के अनुरूप ऋजुकूला के तट पर जाकर एक विशाल, मनोरम सभामण्डप की रचना कर

दी। उसकी समृद्धि और शोभा के आगे स्वय उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था। किन्तु वह स्वय सार्थक हो गया था, इतने प्राणियो को भगवान महावीर की वाणी सुनने का अवसर प्रदान कर।

इन्द्र ने जिस सभामण्डप बनाने की आज्ञा दी थी उसे जैनआगम ग्रन्थो मे 'समवसरण' कहा गया है। आत्मकल्याण का सबको अवसर प्रदान करने वाला स्थान। समस्त प्राणियो पर तीर्थङ्कर की समान दृष्टि एव वाणी का प्रसार। यह इसकी सार्थकता रही होगी। आप सब रगधर्मी कलाकार हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म आकृतियो को साकार करने वाले। अत. आपसे 'समवसरण' की रचना के सम्बन्ध मे थोडा विस्तार से कहूगा।

महावीर के प्रथम धर्मोपदेश के समय जो 'समवसरण' बनाया गया वह लगभग बारह योजन आयाम मे सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार मे फैला हुआ था। उनकी पीठ तक पहुचने के लिए सीढियाँ बनी थी। उसके आगे अनेक वीथिकाएँ। बाहरी परकोटे मे चार गोपुर द्वार थे, जिनके आस-पास मगल द्रव्य रखे थे। गोपुरो के बाह्यभाग मे मकरतोरण और आभ्यन्तर भाग मे रत्नतोरण निर्मित थे। उनके पार्श्वभागो मे नाट्यशालाएँ, रगभूमियाँ, चैत्य-प्रासाद आदि बनाये गए थे। वीथियो के बीचोबीच मानस्तम्भ स्थापित था, जिसकी ऊँचाई तीर्थङ्कर की शरीराकृति से १२ गुनी थी। ये मानस्तम्भ अनुशासन और विनय के प्रतीक थे। इनके दर्शनमात्र से व्यक्ति को अपनी लघुता का बोध होने लगता था। तथा वह जो परम और पूर्ण है उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था।

उस सभामण्डप के हृदय भाग मे एक सुन्दर वेदिका बनी हुई थी, जिसे गधकुटी कहते हैं। उस पर एक रत्नजटित सिहासन प्रतिष्ठित था, जिस पर एक मनोज्ञ कमल बना हुआ था। इसी पर बैठकर तीर्थङ्कर महावीर उपदेश देने वाले थे। गधकुटी के चारो ओर बारह विशाल कक्ष थे, जिन्हे श्रीमण्डप कहा जाता था। इनमे धर्मोपदेश के समय देव-देवियो, साधु-साध्वियो, श्रावक-श्राविकाओ, पशु-पक्षियो आदि के बैठने और सुनने की अलग-अलग समुचित व्यवस्था थी। समवसरण की यह सरचना आगे चलकर स्थापत्य के नमूनो के रूप मे स्वीकार की गई है। किन्तु इसका दूसरा प्रयोजन यह भी जान पडता

है कि इस सभामण्डप मे एक ऐसे वातावरण को बाँध लिया जाता था जहाँ तीर्थङ्कर की वाणी मुखरित हो सके तथा जिसमे पहुचकर प्रत्येक प्राणी आत्मा की उस निर्मलता के सन्निकट हो सके, जो तीर्थङ्कर की वाणी को समझने मे सहायक है। अत समवसरण यथार्थ मे एक चित्तभूमि का उत्पादक था, जहाँ ज्ञान के कमल सुरभित हो सके है।

देवो के दुन्दुभिनाद ने समवसरण के शुभ सवाद को सब ओर फैला दिया। देखते-देखते ऋजुकूला का तट तीर्थङ्कर महावीर की दिव्यध्वनि का परम तीर्थ बन गया। उनका उपदेश सुनने के लिए समवसरण के उस समुद्र मे जनसमूह की सरिताएँ आ-आकर मिलने लगी। इन्द्र भी अपने विशाल परिवार के साथ वहाँ आ पहुचा। उसने महावीर के कैवल्य का अपूर्व हर्ष मनाया तथा उनकी वन्दना कर समवसरण की अन्य व्यवस्थाओ मे व्यस्त हो गया। तत्कालीन अन्य प्रमुख राजा, सामन्त एव महामात्य भी अपने परिवारो के साथ वहाँ एकत्र हो गए। ऐसे अनेक पशु-पक्षी भी वहाँ आ मिले जिनकी जीवन-यात्रा का मोड अब आध्यात्म की ओर हो गया था। उन सभी के परिणाम निर्मल थे। उनके हृदय से वैर, द्वेष, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि असद्वृत्तियाँ तिरोहित हो चुकी थी। अन्तर्विरोध शात हो गए थे। चीता-हिरण, गाय-सिंह, बिडाल-मूषक आदि बडे निर्मल भाव मे पास-पास बैठे महावीर की दिव्य वाणी की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। उस अमृत की, जिससे अनेक सोये हुए प्राण जागते थे। तीर्थङ्कर महावीर की सौम्य मुख-मुद्रा सबको दिखलाई दे रही थी। उस पर इतनी ताजगी और निर्मलता थी कि लगता ही नहीं था कि इन्होंने कठोर तपस्या की है। उनके ज्ञान की उज्ज्वलता से वह सम्पूर्ण समवसरण प्रकाशमान था।

••

११. ज्ञान की गंगा

समवसरण मे उपस्थित जनसमुदाय, देव-देवियो का ध्यान जब महावीर की अलौकिक छवि को निहारते रहने से क्षण भर के लिए टूटा तो उन्होने पाया कि महावीर अभी तक बोले ही नही है। पूर्ववर्ती अन्य तीर्थङ्करो की भाँति वे भी अवश्य उपदेश देंगे। उनकी दिव्य ध्वनि से अवश्य हम सब लाभान्वित होगे। वे अपने तपस्याकाल मे मौन रहे तो अब अवश्य मुखरित होगे।

किन्तु यह क्या ? सारा दिन बीत गया, सारी रात ढल गयी और महावीर कुछ बोले ही नही ? लोगो ने अपने मन को समझाया कि सुना है महावीर प्रारम्भ से ही क्रातिकारी रहे हैं। हो सकता है कुछ विलम्ब से बोलें। अत वे प्रतीक्षा करने लगे। इस बीच सभामण्डप मे लोग आते-जाते रहे। विचार-विमर्श करते रहे, किन्तु उन्हे आश्चर्य हुआ कि आज दूसरा दिन और रात भी गुजर गयी और महावीर का मौन ज्यो का त्यो ? इन्द्र परेशान हो गया। उसने कुबेर से परामर्श किया कि कही हमारे स्वागत या व्यवस्था मे तो कोई कमी नही रह गयी ? किन्तु जहाँ कुबेर हो, वहाँ अव्यवस्था कैसी ? तब फिर बात क्या है ?

जृम्भिका गाव के निवासी एव ऋजुकूला नदी का तट उस समय गर्व से फूले न समाते थे जब उनके घर मे महावीर को परम ज्योति उपलब्ध हुई थी। वे आज उतने ही उदास थे एव खिन्न कि महावीर ने जो कुछ भी वहाँ पाया उसका हम स्वाद तक न चख सके। और उस दिन तो उनके दुःख का पारावार न रहा जब कई दिनो के बाद भगवान महावीर बिना कुछ बोले अन्यत्र विहार कर गए। ऐसे लगा जैसे द्वार से भिक्षु खाली हाथो लौट गया हो।

कुबेर ने वहाँ से उस समवसरण की रचना को समेट लिया और जहाँ

तीर्थङ्कर महावीर जाकर ठहर गए थे वहाँ उसकी पुन रचना कर दी । कुछ दिन यहाँ भी लोगो ने महावीर की अमृतवाणी सुनने की प्रतीक्षा मे व्यतीत किये । किन्तु यहाँ भी वही हुआ । बिना कुछ उपदेश दिए ही महावीर अन्यत्र चल दिये । समवसरण फिर विसर्जित हो गया । जो लोग महावीर के तपस्या-काल के साक्षी थे, उन्हे कौशाम्बी मे लिया गया महावीर का अभिग्रह याद आ गया । वहा जगत् के दरवाजे से महावीर बिना भोजन लिए लौट जाते थे, यहां महावीर के आगन से जगत् प्यासा लौट रहा है । खिन्नता और दु ख दोनो जगह जगत् की झोली मे ही पडे । किन्तु फिर भी लोग इतना जानते थे कि तीर्थङ्कर महावीर मूक केवली नही हैं । उपदेश अवश्य देंगे । यही धारणा उन्हे सान्त्वना प्रदान कर रही थी ।

विचरण करते हुए भगवान महावीर राजगिरि के निकट विपुलाचल पर आए । कुवेर और इन्द्र उनके पीछे-पीछे थे । यहाँ भी कुबेर ने एक अलौकिक विशाल सभामण्डप की रचना की । असख्य श्रोता उसमे उपस्थित हुए । किंतु ज्ञान की गगा मे गतिरोध ज्यो का त्यो वना रहा । महावीर की वाणी प्रगट न हो सकी । अन्तत. समवसरण के व्यवस्थापक इन्द्र का ध्यान इस ओर गया । उसने कारणो की सूक्ष्म-गहन मीमासा की । सारी स्थितियो को जाँचा-परखा । तव उसे अवधि-ज्ञान से पता लगा कि सम्यक् और यथार्थ ज्ञानी के अभाव मे ज्ञान की गगा का उद्गम रुद्ध है । सच्चे जिज्ञासु और सन्निष्ठ, विशुद्ध ग्राहक के अभाव मे ज्ञान कैसा ? सही जिज्ञासा के सन्दर्भ मे ही तो ज्ञान की गरिमा और सार्थकता है । इस समय समवसरण मे ऐसा कोई व्यक्ति नही है जो महावीर की वाणी को सुने-समझे और उसकी यथावत् अनुभूति अन्य प्राणियो को दे सके । जव तक इस प्रकार की कोई प्रज्ञा समवसरण मे नहीं आती, यह गतिरोध वना रहेगा । स्वाभाविक है, सभा के श्रोता सुनेंगे, उनके मन मे विविध जिज्ञासाएँ होगी, उनका समाधान कौन करेगा ? अत यह निश्चित हुआ कि महावीर की वाणी मुखरित तभी होगी, जव सभा मे कोई योग्य सवादी होगा । और वह है — 'ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम' ।

शिल्पी-समुदाय मे एकदम सन्नाटा था । जैसे सब प्रतीक्षा कर रहे हो

उस अनुभूति गौतम की। किन्तु चित्रागद का मन तर्कशील हो रहा था। आचार्य के विराम लेते ही वह पूछ बैठा — 'गुरुदेव ! महावीर तो सबका कल्याण चाहने वाले थे। वर्गविशेप या व्यक्ति विशेष का भेद उनके यहा नही था। फिर जब उपदेश देने का समय आया तो किसी विशेष प्रतिभा के प्रति आग्रह क्यो ?'

'भद्र ! तुम्हारे प्रश्न मे ही इसका समाधान है। महावीर सबका कल्याण चाहते थे इसीलिए वे किसी ऐसी आत्मा की उपस्थिति मे अपना उपदेश देना चाहते थे, जिससे उनका सवाद हो सके। साधारण ज्ञानी के प्रति या विशेष ज्ञानी के प्रति उनका कोई आग्रह नही था। क्योकि ज्ञान के कोई भेद नही होते। भेद होते हैं अज्ञान के। अत महावीर जैसे ज्ञानी आत्मा का सदेश ज्ञान की ओर अग्रसित कोई आत्मा ही ग्रहण कर सकती थी। चाहे वह पौवो मे, पशुओ मे, मनुष्यो मे कही भी निवास क्यो न करती हो।

'महावीर को सुनना भी सबके वश की बात नही थी। जो आत्माए ध्यान के प्रशिक्षण से गुजर कर शान्त हो जाती थी वे ही महावीर के ज्ञान की किरणें ग्रहण कर पाती थी। सम्भवत ऐसी आत्माओ की तैयारी के लिए ही यह समवसरण, मानस्तम्भ आदि की रचना की जाती रही होगी। महावीर की वाणी का अधिक प्रचार न होने का एक कारण यह भी है कि उसे श्रेष्ठतम आत्माए ही ग्रहण कर पायी। प्रत्येक युग मे जो आत्माए उस स्थिति तक विकसित होगी, वे उसे ग्रहण करती रहेगी। जैसा मैने कहा था कि महावीर का युग धार्मिक–उत्क्रान्ति का युग था। अत उस समय अधिक जाग्रत आत्माए महावीर के ज्ञान का लाभ उठा सकी।'

'इन्द्र को जब ज्ञात हुआ कि इन्द्रभूति गौतम ही महावीर की वाणी मुखरित कराने मे सहायक होगा तो उसका मन द्विविधा मे पड गया। क्योकि इन्द्रभूति गौतम प्रखर प्रतिभा का धनी तो है, पर तीर्थङ्कर महावीर पर उसकी श्रद्धा नही है। वह प्रतिस्पर्द्धा एव शास्त्रार्थ मे ही आनन्दित होता रहता है। उसे परम तत्वो का ज्ञान नही है। उसमे अपार मेधा है, किन्तु मिथ्यात्व की भावना प्रबल है। परन्तु उसे यदि किसी तरह तीर्थङ्कर महावीर के समवसरण मे लाया जा सके तो उसके मिथ्यात्व को वदला जा सकता है। उसमे

सोया हुआ सम्यक्त्व जाग सकता है। जैसे ही इन्द्र के मस्तिष्क मे यह वात आयी, उसे मानो अपनी कठिनाई का हल मिल गया। उसकी मनोव्यथा कुछ हलकी हुई। वह अपापा नगरी से ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम को यहा लिवा लाने की युक्ति सोचने लगा। अन्त मे उसने एक वूढे वटुक का वेश धारण किया और इन्द्रभूति को लाने उसके आश्रम की ओर चल दिया।

अपापा नगरी मे इन्द्रभूति गौतम अपने पाच सौ योग्य शिष्यो के साथ आश्रम वनाकर रहता था। वह वेद–वेदागो का अद्भुत विद्वान् था। निरन्तर शास्त्रो के पठन–पाठन एव शका–समाधान मे ही लगा रहता था। उसकी विद्वत्ता प्रसिद्ध थी। जब वटुक रूपी इन्द्र उसकी व्याख्यानशाला के समीप पहुचा तो वह अपने शिष्यो की जिज्ञासाओ का समाधान कर रहा था। वटुक ने इन्द्रभूति गौतम को प्रणाम किया और वही एक किनारे पर बैठ गया। इन्द्रभूति ने उसकी उपस्थिति का अनुभव किया। उसे लगा कि आगन्तुक वृद्ध मे ज्ञान के लिए पूर्ण जिज्ञासा है एव वह वहुत नम्र तथा शालीन भी है। उसने अपने विषय को समाप्त करते हुए वटुक से पूछा—'आर्य! आपका आगमन यहा किस आशय से हुआ है?'

इन्द्र ने विनयपूर्वक कहा—'महानुभाव, आपके ज्ञान की महिमा वहुत पहले से सुन रखी है। तर्क करने और शंकाओ का समाधान प्रस्तुत करने मे आपके सदृश कोई दूसरा नही है। वैसे ही आपके दर्शन करना चाहता था, किन्तु आज एक गूढ समस्या का समाधान लेने आया हू। मेरे गुरु वर्द्धमान महावीर ने मुझे एक श्लोक सुनाया था। उसकी विशद व्याख्या भी की थी। किन्तु वृद्धावस्था के कारण मुझे उसका अर्थ विस्मरण हो गया। मैंने सोचा–'आपसे ही इसका अर्थ पूछ लूं। आप यदि इस श्लोक की गूढताओ को एक वार भी समझा सकें तो वडा अनुग्रह होगा। यही आशा लेकर मैं यहा आया हू। आज्ञा हो तो श्लोक कह सुनाऊ?'

इन्द्रभूति ने एक वार अपने शिष्यो की ओर देखा। सभी अपने गुरु की विद्वत्ता के प्रति आश्वस्त थे। किन्तु आचार्य गौतम महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति का समाचार थोडे दिन पहले सुन चुका था। अत. उनका नाम वीच मे आने से वह कुछ शकित था। फिर भी उसने सगर्व कहा—'महानुभाव! आप

नि सकोच होकर अपना श्लोक कहे ।'

इन्द्र ने मधुर स्वर मे इस प्रकार श्लोक पढना प्रारम्भ किया—

त्रैकाल्य द्रव्यषट्क नवपद सहित
जीवषट्काय लेश्या ।
पचान्येचास्ति काया व्रतसमिति
गतिज्ञान चारित्र भेदा ।।
इत्येतन्मोक्षमूल त्रिभुवनमहितै
प्रोक्तमर्हद्भिरीशै ।।
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च
मतिमान् य स वैशुद्धदृष्टि ।।

बटुक ने श्लोक समाप्ति के बाद जैसे ही इन्द्रभूति गौतम की ओर देखा, वह गहरी चिन्ता मे डबा हुआ था । श्लोक की गूढताए उसे समझ मे नही आयी । क्षण भर को उसे लगा जैसे उसके शास्त्रो का ज्ञान रूपी दीप अचानक बुझ गया है । उसने अभी तक मात्र शास्त्रो की सूचनाए एकत्र की हैं । ज्ञान की एक किरण को भी वह नही पकड सका है । 'षट्द्रव्य', 'नवपदार्थ,' 'षट्लेश्या ,' 'पचास्तिकाय,' 'व्रत,' 'समिति', 'ज्ञान,' 'चारित्र' आदि श्रमण-परम्परा के पारिभाषिक शब्दो की गूढता से वह घिर गया । उसकी कच्ची मेधा धराशायी हो गयी । किन्तु विद्वत्ता का अहकार सिर ऊचा करके खडा हो गया । वह सोचने लगा—'इस श्लोक का शाब्दिक अर्थ मैं कर भी दू तो भी व्याख्या मे मेरा प्रवेश न हो सकेगा । मैं इस बटुक को अब क्या समझाऊ? इसके सामने मैं यदि अपनी अज्ञानता व्यक्त करता हू तो इस उपस्थित शिष्य-समुदाय पर अच्छा प्रभाव नही पडेगा । अत इसके गुरु के पास जाकर ही मैं उसे शास्त्रार्थ मे पराजित कर अपना प्रभाव जमाऊगा ।'

इस निश्चय के साथ इन्द्रभूति ने बटुक से कहा—'महामति ! तुम्हारा श्लोक बहुत ही उत्तम है । किन्तु इसकी समीक्षा और विश्लेषण करने से पूर्व मैं तुम्हारे गुरु से मिलना चाहता हू । उनसे ही इस सम्बन्ध मे खुलकर बात करूँगा । क्या तुम मुझे वहाँ तक ले चलोगे ?'

बटुकरूपी इन्द्र को और क्या चाहिए ? उसका उद्देश्य पूरा होने को

था। फिर भी वह मन की प्रसन्नता को छिपाते हुए बोला—'जैसी आपकी आज्ञा। आप कहे तो अभी चल सकते हैं।' इन्द्रभूति गौतम उसी क्षण उसके साथ हो लिया। वे दोनो महावीर के समवसरण की ओर विपुलाचल पर्वत की तरफ चल पडे।'

उधर समवसरण मे कुछ दूसरा ही वातावरण था। उपस्थित जनसमुदाय मे से जिनको इन्द्र की इस योजना का पता था वे उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे और जो इससे अनभिज्ञ थे वे तीर्थङ्कर महावीर के मौन के प्रति चिंतित थे। किन्तु उनकी मुखरता के प्रति आशावान। तत्कालीन वज्जि एवं लिच्छिवि गणराज्यो के प्रमुख उल्लासपूर्वक समवसरण मे विचरण कर रहे थे। राजा श्रेणिक आरम्भिक प्रवेशद्वार पर खडे हुए आगन्तुको का स्वागत कर रहे थे। वे प्रसन्न थे कि भगवान महावीर की अमृतवाणी के श्रोताओ का स्वागत करने का उन्हे अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है।

इन्द्रभूति गौतम ने उस समवसरण के प्रवेशद्वार मे जैसे ही प्रवेश किया, वटुक कही लुप्त हो गया। इन्द्रभूति ने सोचा—वृद्ध कही पीछे छूट गया होगा। क्षणभर बाद वही वटुक इन्द्र के रूप मे उसका स्वागत कर रहा था। गौतम जैसे ही आगे बढा, मानस्तम्भ देखकर स्तम्भित रह गया। उसको मानस्तम्भ की ऊँचाई और विशालता के समक्ष अपनी लघुता के दर्शन हो गये। बस, दृष्टि फिरने की ही देर थी। उसके मन का सारा कलुष धुल गया। अहकर बर्फ-सा पिघल गया। सूरज की किरणें जैसे ओस की बूंदो को सोख लेती है, ज्ञान की आलोक रश्मियो ने इन्द्रभूति गौतम के अज्ञान तम को गला दिया। उसके पग अनायास महावीर के सिंहासन की ओर बढ गये।

इन्द्रभूति गौतम की प्रतिभा अब श्रद्धा से युक्त होती जा रही थी। गन्ध कुटी के निकट पहुचकर वह महावीर की मगल मुद्रा को निर्निमेष देखने लगा। यह एक अद्भुत दृश्य था। किसी प्रकार की कोई बात-चीत नही, फिर भी सभाषण हो रहा था। दो निर्मल आत्माओ का संवाद। गौतम क्षणभर मे गतगर्व हो गया। आया था शास्त्रार्थ करने, किन्तु यहा शास्त्र के सभी तर्क ठंडे पड़ गये। वीतरागता ने उसके दम्भपूर्ण मिथ्यात्व को बुहार दिया। मन के वसन उतरते ही तन के वसन उतरने मे देर नही लगी इधर सम्यग् श्रद्धान

होते ही गौतम को मन पर्यय ज्ञान की उपलब्धि हुई, उधर महावीर की दिव्य ध्वनि श्रोताओ की मन–धरती का सीचने लगी। श्रोताओ की प्रतीक्षा सफल हुई। प्रथम गणधर गौतम ने तीर्थङ्कर महावीर की गुणवत्ता को धारण करना प्रारम्भ कर दिया। मानवता के मगल के लिए ज्ञान की गंगा प्रवाहित होने लगी।

महावीर को केवलज्ञान प्राप्त किये आज ६६ दिन हो गये थे। अत श्रावरण कृष्णप्रतिपदा उनकी देशना का प्रथम दिन हुआ। अभी तक लोगो ने जाना था कि वर्षाऋतु मे केवल मेघ बरसते हैं। उससे शस्य श्यामला भूमि फलती–फूलती है। किन्तु महावीर के अमृतवचनो की वर्षा से वह श्रावरण का मास और अधिक सार्थक हो गया। सभा मे उपस्थित जन–समुदाय के हृदय जनम–जनम के लिए पवित्र हो गये। इस अवसर पर देवताओ की प्रसन्नता अकथनीय थी। वे विभिन्न प्रकार के उत्सव मनाने मे व्यस्त थे।

० ०

१२. जनहित के लिए जनभाषा

भगवान महावीर की प्रथम देशना की कथा कहते हुए आचार्य कश्यप क्षण भर के लिए रुके। उन्होने देखा सूर्य काफी ऊपर चढ आया है। शिल्पी-समुदाय ऐसे प्रकाशित हो रहा था, जैसे महावीर की वाणी की वर्षा कुछ इधर भी हो गयी हो। ज्ञान के प्रति वही जिज्ञासा, वही प्यास, जो समवसरण मे उपस्थित गौतम के हृदय मे जगी थी। आचार्य कथा का सूत्र पकड ही रहे थे कि किसी ने एक प्रश्न छोड दिया—

'आचार्यप्रवर! अपूर्व होगा वह क्षण जब भगवान महावीर इतनी लम्बी तपस्या एव प्रतीक्षा के बाद बोले होगे। गुरुदेव! ऐसी वह कौन-सी भाषा थी, जिसमे वे अकेले बोलें और सभी प्रकार के जीवो तक उनकी वाणी सम्प्रेषित हो जाय? तथा उन्होने अपनी प्रथम देशना मे जन-कल्याण के लिए क्या उपदेश दिया? हम उसे आपके मुख से सुनना चाहते है।'

'आयुष्मति कनकप्रभा! वह कोई अलौकिक भाषा नही थी, जिसमे महावीर बोले थे। अलौकिकता, विशिष्टता एव चमत्कारिकता के प्रति महावीर का प्रारम्भ से ही उपेक्षा भाव रहा है। वे नही चाहते थे कि अपने ज्ञान के सम्प्रेषण के लिए वे एक ऐसी भाषा चुने, जिसे कुछ सुविधासम्पन्न लोग ही समझ पाये। उनके वर्षों के अनुभव एक छोटे से वर्ग मे सीमित हो जाय। अत. धर्म और दर्शन के लिए प्रसिद्ध सस्कृत जैसी समृद्ध भाषा वे नही अपना सके। इसके कई अन्य कारण भी थे। भाषा जब बहुत दिनो तक किसी परम्परा मे सम्बन्धित हो जाती है तो उसके शब्दो के अर्थ भी निश्चित हो जाते हैं। महावीर का सोचना एव अनुभव नये ढग का था। अत उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी विशेष ध्वनि का प्रयोग उन्हें करना पडा, जो अनपढ लोगो की भाषा मे ही मिल सकती थी। व्यवहार की भाषा मे। जीवन की सीधी-सादी भाषा मे। सरलता और स्वाभाविकता के कारण उस भाषा का

नाम ही प्राकृत पड गया। इसे अर्धमागधी महाराष्ट्री आदि नामो से भी जानते हैं।

इस जनभापा को अपनाने मे एक कारण यह भी था कि महावीर का मन शास्त्रीय नही था। उनकी जिन्दगी किताबो के घेरो मे नही गुजरी थी। उन्होने खुले आकाश के नीचे स्वतन्त्र विचरण किया था। अत वे जो कह रहे थे वह उनके प्राणो से निकल रहा था। एकदम मौलिक और सच्चा। उसे वे वैसा ही रखना चाहते थे। अत उन्होने प्राकृत को अपनी देशना का माध्यम वनाया। जीवन भर यही भापा उन्होने पग-पग पर सुनी थी। इसी मे वे जिये थे।

महावीर जैसा उदारचेता मिलना कठिन है। उन्होंने जगत् के समस्त पदार्थों से जीवन पाया था, अत अव जव वे अपनी ज्ञाननिधि लुटाने चले थे तो चाहते थे कि उसका प्रसार सारे जगत् मे हो जाय। सभी अपना-अपना कल्याण देख सकें। इसके लिए उन्होने प्राकृत भाषा को अपनाकर सवसे पहला कार्य यह किया कि धर्म को वीच वाजार मे लाकर खडा कर दिया। अव धर्म उनका था जो उसे सुन सकते थे, समझ सकते थे। आत्मकल्याण चाहने वाले के लिए अव किसी मध्यस्थ की आवश्यकता न रही। न किसी वहाने की। महावीर ने आत्मा और परमात्मा को आमने-सामने लाकर खडा कर दिया। किसे किधर जाना है इसका निर्णय वह अब स्वय करे। इस स्थिति ने उस समय ऐसे कई लोगो को नाराज कर दिया, जो दूसरो के भरोसे पर सौंपकर आराम से सो रहे थे। यही कारण है कि महावीर द्वारा इस जनभाषा को अपना लेने से न केवल पडित लोग उनके विरोध मे खडे हो गये, अपितु वे भी, जो इन पडित पुजारियो पर आत्मकल्याण के लिए निर्भर थे।

'महावीर जो इन्द्रभूति गौतम के लिए ६६ दिन तक मौन रहे वह अकारण नही था। वल्कि उसकी दीक्षा इस वात की प्रमाण थी कि मात्र शास्त्रो का पारगत होना आत्मकल्याण के लिए पर्याप्त नही है। उसके लिए जीवन के अनुभवो से गुजरना पडेगा। इस प्रकार एक प्रकाण्ड व्राह्मण पडित को अपना शिष्य वनाकर महावीर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वर्ग या वर्ण की श्रेष्ठता एव परम्परागत पुस्तकीय ज्ञान प्रतिभासम्पन्न भले वना दे, किन्तु

प्रज्ञावान नही । उसके लिए आत्मसाधना नितान्त आवश्यक है ।'

'भद्रे ! तुमने पूछा—महावीर ने प्रथम देसना मे क्या उपदेश दिये ? उनकी विशद विवेचना में श्रमण-परम्परा के अन्य सिद्धान्तो के साथ बाद मे करूँगा । इतना कह देना चाहता हू कि महावीर ने अपने प्रथम उपदेश मे क्या कहा, उसे वास्तविक रूप मे या तो इन्द्रभूति गौतम बता सकेंगे अथवा उनके शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा निर्मित आगमग्रन्थ । मैं तो यह जानता हूं कि महावीर की आत्मा उस स्थिति तक पहुच गयी थी कि उससे जो भी प्रगट हुआ होगा वह जनसमुदाय के, प्राणिमात्र के हित के लिए ही । वहा न कोई खण्डन था, न मण्डन । केवल थी सत्य तक सीधी पहुच । न आडम्बर, न दुराव, न कोई छल । वहा था आत्मा की अनन्त ऊर्जा से साक्षात्कार का सीधा-सच्चा मोक्षमार्ग । सच्ची जिज्ञासा, सच्ची पहचान और सच्चा आचरण, यही भगवान महावीर के प्रथम उपदेश का सार था । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एव ब्रह्मचर्य को समकालिक सन्दर्भों एवं उनकी अर्थवत्ता के साथ प्रस्तुत किया गया था । इतने मनोहारी ढग से कि उपस्थित प्राणी मत्रमुग्ध हो सुनने मे लीन थे ।

००

१३. प्रतिभा एवं प्रज्ञा का समन्वय

ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति गौतम का महावीर के समवसरण मे जाना ही आश्चर्यजनक था। जब वह उनसे दीक्षित हो गया तो यह उस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना हो गयी। तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक जगत् मे इसकी जोरो से चर्चा होने लगी। भगवान महावीर की तपस्या की प्रसिद्धि तो समाज मे थी, विद्वान् भी उससे परिचित थे, किन्तु उनमे इतनी प्रज्ञा है कि इन्द्रभूति जैसे विद्वान् उनको अपना गुरु मान ले यह किसी ने न सोचा था। अत जो विद्वान् थे वे महावीर के ज्ञान की परीक्षा करने के लिए उनके पास एकत्र होने लगे। और जो सामान्य नागरिक थे वे मात्र जिज्ञासावश महावीर को घेरे रहते। देखें, कौन हारता एव कौन जीतता है?

समवसरण मे भगवान महावीर एव इन्द्रभूति गौतम मे 'आत्मा' के अस्तित्व एव स्वरूप आदि पर चर्चा हो रही थी। जनसमुदाय पहली वार अनुभव कर रहा था कि आत्मा की निमलता की राह कितनी सीधी है। तभी वहा इन्द्रभूति का छोटा भाई अग्निभूति अपने शिष्यो के साथ आ पहुचा। वह अपने स्थान से यह सोचकर चला था कि हो सकता है कि मेरे बडे भाई को अकेला जानकर महावीर ने हरा दिया हो। मैं जाकर उनके सभी तर्कों को छिन्न-भिन्न कर दू गा। महावीर को हमारी विद्वत्ता के आगे झुकना पडेगा। किन्तु जैसे ही वह समवसरण के सोपानमार्ग तक पहुचा, उसका जोश ठण्डा पडने लगा। यह क्या, उसके मन मे भी तीर्थङ्कर महावीर की सर्वज्ञता के प्रति श्रद्धा उमडने लगी। फिर भी उसने निश्चय किया कि मैं प्रश्न तो उनसे करू गा ही।

महावीर के समक्ष पहुचते ही उसे महावीर की वाणी सुनायी पडी—
'प्रिय अग्निभूति! क्या तुम्हें कर्म के अस्तित्व के विषय मे शका है?'

विना कहे ही उसका प्रश्न जान लिया जायेगा, अग्निभूति को यह आशा

नही थी। वह श्रद्धा से भर गया। हाथ जोडकर बोला—'भगवन ! आपने ठीक जाना। शास्त्रो मे 'पुरुषाद्वैत' की इतनी महिमा है कि सर्वत्र 'पुरुष' ही व्याप्त है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नही है। तब कर्म का अस्तित्व क्या ? और फिर जीव चेतन है, कर्म अचेतन। इनमे सादि या अनादि किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार नही किया जा सकता है। क्योकि इससे आत्मा की मुक्ति का कोई अर्थ नही रह जाता।'

'महानुभाव, यह प्रत्यक्ष से ही प्रमाणित है कि जगत् मे चेतन और अचेतन दो तरह के पदार्थो का अस्तित्व है। तथा जिस प्रकार अरूपी आकाश के साथ रूपी द्रव्यो का सम्पर्क देखा जाता है, उसी प्रकार अचेतन कर्मो का चेतन आत्मा के साथ भी सम्बन्ध सम्भव है। जिस प्रकार यह सम्बन्ध जीव की विभिन्न क्रियाओ व मनोभावो से स्थापित होता है, उसी प्रकार जीव के अपने प्रयत्नो द्वारा इस सम्बन्ध का विच्छेद भी सम्भव है।'

इस प्रकार अनेक युक्तियो और उदाहरणो द्वारा जब महावीर ने जीव एव कर्म के सम्बन्धो की विशद व्याख्या की तो अग्निभूति उनकी सर्वज्ञता के प्रति नतमस्तक हो गया। उसने भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ महावीर से दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रमणधर्म स्वीकार कर लिया। यह खबर हवा की भाति समाज मे फैल गयी। जिसने सुना वही आश्चर्यचकित।'

इन दोनो गौतम विद्वानो का छोटा भाई वायुभूति भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने महावीर के पास दौडा आया। महावीर ने जब उसकी शका—'जीव और शरीर का पृथक-पृथक अस्तित्व है या नही ?' को अच्छी तरह समाधित कर दिया तो वह भी अपने भ्राताओ का अनुगामी हो गया। इन तीन गौतम विद्वानो की दीक्षा ने तत्कालीन धार्मिक-जगत् को बेचैन कर दिया। महावीर के पास इस प्रकार के शास्त्रो के अनेक ज्ञाताओ की भीड लग गयी। कहा जाता है कि उस समय के प्रसिद्ध इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण आचार्यो को उनकी प्रत्येक की शकाओ का समाधान करते हुए महावीर ने अपने पास दीक्षित कर लिया था। इस प्रकार महावीर ने इन विद्वानो की शकाओ के माध्यम जीव-अजीव के अस्तित्व, कर्मसिद्धान्त, आत्मा एव शरीर की भिन्नता, स्वर्ग-नरक के अस्तित्व, पाप-पुण्य की परिभाषा, पुनर्जन्म, मोक्ष का स्वरूप

आदि अनेक विषयो को अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर स्पष्ट कर दिया था। परम्परा कहती है कि एक ही दिन मे लगभग चार हजार ब्राह्मण विद्वानो ने महावीर की सर्वज्ञता स्वीकार कर उनसे दीक्षा ग्रहण की थी।'

'भद्र चित्रागद ! इस घटना को जरा गहराई से समझें। हमे सख्या में जाने की आवश्यकता नही है। क्योकि प्रत्येक महापुरुष के साथ एक काव्य का निर्माण होता है। काव्य प्रतीको से गढे जाते हैं। अत' उन्हे पढते समय उतनी गहरी सवेदना रखना भी आवश्यक है। महावीर के पास आकर इतनी बडी सख्या मे विद्वानो ने दीक्षा ली या नही, इतने विद्वान् ब्राह्मण परम्परा मे थे या नही, प्रश्न इनकी प्रामाणिकता को जाचने का नही है। बल्कि प्रयत्न यह है कि इससे अनुस्यूत क्या होता है ? महत्त्व उसका है।

मुझे इस मिथक की दो फलश्रुति दृष्टिगत होती हैं। महावीर ने सर्वप्रथम ब्राह्मण विद्वानो को दीक्षितकर दो बातो को स्वीकृति प्रदान की। प्रथम यह कि जो शास्त्रो का ज्ञान है, वह तर्क को पैदा करता है, प्रतिभा को पैनी बनाता है, किन्तु उससे प्रज्ञा की उपलब्धि करना शेष बना रहता है, जो गहन आत्मानुभूति से सम्भव है। इस प्रकार यदि प्रतिभा और प्रज्ञा का समन्वय हो सके तो जगत्, आत्मा, मोक्ष आदि के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ये बाते इतनी गूढ नही हैं, जितनी इन्हे समझ लिया गया है। यदि इनके वास्तविक स्वरूप को बिना छिपाये हुए जन-समुदाय के आगे प्रस्तुत किया जाय तो धर्म जैसी सरल और ग्राह्य वस्तु दूसरी नही है। प्रत्येक आत्मा उसे ग्रहण करने का अधिकारी है।

दूसरी बात यह कि जब समाज के अन्य वर्ग को पथप्रदर्शन करने वाला ब्राह्मण वर्ग स्वय महावीर के पास दीक्षित होने लगा, उनके वचनो मे श्रद्धान करने लगा तो उनके अनुयायिओ को सद्बुद्धि आते देर नही लगेगी। महावीर के स्वभाव मे ही केन्द्र को साधना रहा है, चाहे वह धार्मिक क्षेत्र हो या सामाजिक। इस प्रकार महावीर ने एक ओर जनभाषा का प्रयोग कर समस्त लोक-जीवन को अपने उपदेशो की परिधि मे खीच लिया तो दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वानो की दीक्षा द्वारा उस दूसरे वर्ग को भी उन्होंने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया जिनकी जीवन-पद्धति ही शास्त्रीय थी। लोक और

शिष्ट का यह समन्वय तीर्थङ्कर महावीर की अपूर्व देन थी ।

इस प्रकार इस समवसरण मे तीर्थङ्कर महावीर की उपकारी वाणी ने प्राणियो को उनके भीतर जाकर छुआ । उनकी चिंतन शैली को पूर्णतया बदल दिया । करुणा की परम ज्योति से उनके मन प्राण जाग गये और रोम-रोम झूम गया । धर्म का जो स्वाभाविक और मगलमय रूप जन-समुदाय के सम्मुख उपस्थित हुआ, उससे उनके भाव सरल हो गए और वृत्तिया सयत हो गयी । समाज को जीवन मे पहली बार धर्म की व्यापक लोकप्रियता का बोध हुआ । वह यह जानकर अचम्भे मे था कि वही मनुष्य जो कल तक शोषण कर रहा था, आज एक शोषण-रहित समाज की सरचना का पक्षपाती है । महावीर के ज्ञान और साम्यभावना के प्रति लोग श्रद्धा से आविर्भूत थे । महावीर की नि सीम करुणा ने लोकमानस को क्रान्ति के एक अभिनव मोड पर ला खडा किया । एक ऐसे विन्दु पर, जहा से शोषण, वैर, घृणा, हिंसा आदि का कोई स्थान नही । आत्मस्वातन्त्र्य के तथ्य से सत्य और अहिंसा की अपराजिता शक्तिया पुन. प्रभावशाली हो गयी । इस प्रकार महावीर की समत्व की देशना ने वैपम्य की धुंध हटा दी ।

••

१४. चतुर्विध–संघ

भगवान महावीर के तीर्थङ्कर जीवन की कथा प्रतिदिन चलती रही। आचार्य कश्यप ने प्रमुख गणधरो की दीक्षा के बाद अन्य लोगो की दीक्षा की कथा भी कही। चतुर्विध सघ स्थापना की बात उन्होने इस प्रकार प्रारम्भ की—

महावीर के पास अब इतनी दीक्षित आत्माए हो चुकी थी कि उन्हें आत्म-शुद्धि के मार्ग मे जाने के लिए निर्देशन देना आवश्यक हो गया था। अतः महावीर ने एक समवसरण मे श्रमणसघ की स्थापना की घोषणा की। व्यवस्था की दृष्टि से वह चार भागो मे विभक्त हुआ—श्रावक, श्राविका; एव साधु, साध्वी। आत्मकल्याण के लिए महावीर की जो साधना थी उस तक पहुचने के लिए साधको का यह क्रम बहुत आवश्यक था।

महावीर ने मुनि और गृहस्थधर्म की अलग-अलग व्यवस्थाए स्थापित की। उन्होने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बनाया और उसी के विस्ताररूप पाच व्रतो—अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन एव अपरिग्रह—को स्थापित किया। इन व्रतो व यमो का पूर्ण रूप से पालन मुनियो के लिए निर्धारित किया, जो महाव्रत कहलाए। एव स्थूलरूप से पालन गृहस्थो का धर्म कहलाया, जिसे अणुव्रत-पालन भी कहा गया। इन दोनो साधको की श्रेणियो मे व्रतो के दोषो व अन्य अपराधो के निवारण के लिए महावीर ने प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि की व्यवस्था की। इस प्रकार महावीर ने चतुर्विध-सघ द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग प्रत्येक के लिए खोल दिया।

चतुर्विध-सघ की स्थापना करने मे महावीर का गहन चिन्तन और मानव कल्याण की भावना निहित है। महावीर ने अहिंसा के विस्तार द्वारा अपनी चेतना इतनी विस्तृत कर ली थी कि सामान्य प्राणी-जगत् से उनका तादात्म्य स्थापित हो चुका था। मनुष्य निम्न स्तर के जो प्राणी हैं उनके लिए महावीर

अहिंसा द्वारा बहुत कुछ दे चुके थे। अपने साधनाकाल मे वे अधिकतर इन्ही दो स्तरो के प्राणियो के बीच रहे—पशु-पक्षियो के मध्य और देवताओ मे घिरे हुए। देवताओ से तादात्म्य स्थापित करने के लिए उन्होने अपने मस्तिष्क को कुछ इस प्रकार विकसित किया था कि उनसे बातचीत हो सकती थी। अत मनुष्य से निम्न और उच्च श्रेणी के प्राणियो के आत्मकल्याण की बात महावीर बहुत पहले से करते आ रहे थे। अपनी साधना और केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद वे मानव नामक प्राणी से तादात्म्य स्थापित करना चाहते थे। अपने तीर्थङ्कर जीवन मे विभिन्न स्थानो के परिभ्रमण द्वारा उन्होने यही किया है।

मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा मे उन्होने दो प्रयत्न किये। दिव्यध्वनि द्वारा मानव की चेतना तक पहुचना और सघ-व्यवस्था द्वारा उसके साधुपने को विकसित करना। इस अर्थ मे महावीर का अपूर्व योगदान है। देवगति एव सामान्य प्राणि जगत् को प्रतिबोध देने के लिए बोलना आवश्यक नही था। इसीलिए महावीर साधनाकाल मे प्राय मौन रहे। किन्तु मनुष्य तक सदेश पहुचाने के लिए शब्दो का माध्यम चुनना आवश्यक हो गया। अत महावीर की दिव्यध्वनि हुई। दिव्यध्वनि क्या है ? इसके प्रतीक को भी समझें वह एक ऐसी वाणी है, जो न बोली गयी है और न सुनी गयी है, किन्तु फिर भी मानव की चेतना तक पहुच गयी है। महावीर की चेतना के भीतर वह वाणी उठी और ऐसे मानव के अन्तस् तक वह पहुच गयी, जिसने सुनने के लिए कानो का नही, अपितु अपने प्राणो का उपयोग किया। ऐसे श्रोता की ही तलाश थी महावीर को। जब मिल गया, तब उनकी वाणी सम्प्रेषित हुई।

अत महावीर ने चतुर्विध-सघ मे 'श्रावक' को पहले रखा है। वे पहले महापुरुष हैं इस जगत् मे, जिन्होने केवल यह नहीं सोचा कि मात्र मैं ठीक और प्रामाणिक बोलू, अपितु उन्होंने इस बात का भी प्रयत्न किया कि मेरी बात ठीक से सुनी भी जाय। शब्दो का भी अपव्यय वे नही चाहते थे। इसीलिए महावीर ने पहला कार्य किया श्रावक बनाने का। बहुत कठिन कार्य है, किसी को सुनने के लिए तैयार करना। बोलने से भी कठिन। किन्तु

महावीर ने श्रावक की कला को विकसित किया। उन्होंने भेद किया श्रोता और श्रावक मे। श्रोता वह जो कानो से शब्द सुने, किन्तु श्रावक वह, जिसका चित्त सुने। और वह तभी सुन सकता है जब उसके मन की विचार-परिक्रमा सब जगत् से वापिस लौटकर शान्त हो जाय। वह है सच्चा श्रावक।

'श्रावक' को विकसित करने के लिए महावीर ने अनेक प्रयोग किये हैं। वे उसे मौन मे ले जाना चाहते हैं, जहा वह अपनी आत्मा के अधिक निकट हो सके। इसके लिए ही महावीर ने उसे सामायिक एव प्रतिक्रमण आदि करने की व्यवस्था की है। इन शब्दो का प्रयोग महावीर ने क्यो और कितने गहरे अर्थ मे किया है, इस पर बाद मे कहूगा। अभी इतना समझे कि अपनी चेतना को बाहर से वापिस बुलाकर एकत्र करना प्रतिक्रमण है। अर्थात् बाह्य सम्बन्धो मे निसग हो जाना प्रतिक्रमण है, जिसे ध्यान का पहला चरण भी कह सकते है। सामायिक है, दूसरा पग। समय का अर्थ है—आत्मा और सामायिक का अर्थ है—आत्मा मे होना। अत महावीर ने मनुष्य को श्रावक बनाने के लिए प्रथम उसे आत्मा मे लौटना सिखाया और बाद मे आत्मा की अनुभूति करना। ऐसी स्थिति मे यदि मोक्ष या आत्मकल्याण की बात कही जायेगी तो श्रावक उसका अनुकरण कर सकेगा।

चतुर्विध-सघ मे श्रावक-श्राविका को प्रथम रखने का तात्पर्य यह है कि महावीर की साधना-पद्धति श्रावक से प्रारम्भ होती है। एकदम से कोई साधु नही हो सकता। जब व्यक्ति ध्यान और सामायिक से गुजरना सीख ले तो उसे साधु होने मे परिश्रम नही करना पडेगा। अत श्रावक वह भूमिका है, जहा साधु का जन्म हो सकता है। साधु होने के लिए घर-बार उसकी कोई रुकावट नही होगी, यदि उसका चित्त सचमुच श्रावक हो चुका है तो। उसके ध्यानस्थ होते ही सब स्वयं छूट जायेगा। अत महावीर की देसना सुनकर उसके साथ जो व्यक्ति हो लिए उन्होने गृहस्थ जीवन का त्याग नही किया, अपितु महावीर के पास इतनी बहुमूल्य निधि को वे पा गये कि और सब कुछ उनके लिए निरर्थक हो गया।

आचार्यप्रवर ! आपकी अनोखी व्याख्या है। एकदम चेतना के तल में उतर जाने वाली। आपने कहा कि महावीर ने श्रावक या साधु को प्राथमिकता

दी। श्राविका या साध्वी को दूसरा स्थान। गुरुदेव ! महावीर तो समानता के पोषक थे। फिर नारी होने मात्र से साधना मे दूसरा स्थान क्यो ?

आयुष्मति ! महावीर की पूरी साधना संकल्प की और श्रम की है। सत्य को पाने के लिए अन्तर एव बाह्य न जाने कितने सघर्षों से गुजरना पडता है। इसीलिए महावीर कहते हैं कि मोक्ष पाना है तो पुरुष का चित्त भी पाना होगा। स्त्रैण चित्त से मोक्ष सम्भव नही है। जिन्होने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने पुरुष का संकल्प अवश्य धारण किया होगा।

इस प्रकार महावीर के मन मे स्त्री-पुरुष के भेद को लेकर कोई समानता-असमानता नही थी—भद्रे ! तुम्हे आश्चर्य होगा कि महावीर के संघ मे कहा जाता है—तेरह हजार साधु थे और चालीस हजार साध्विया। यह अनुपात वहुत समय तक ऐसा बना रहा। इससे स्पष्ट है कि महावीर ने मुक्ति का मार्ग सबके लिए समान रूप से प्रशस्त किया था। जिसमे जितनी सामर्थ्य व सकल्प हो वह उस दिशा मे गतिशील हो सकता था। महावीर के सघ मे इस प्रकार से नारी-पुरुष को खुला आमन्त्रण होने से समाज का अनुपात भी बना रहा। इसीलिए महावीर के धर्म को भारतीय समाज अनेक प्रभावो के वाद भी छोड नही सका।

००

१५. मत–मतान्तरों का विसर्जन

'भद्र ! महावीर का समवसरण क्रमश एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिशील होता रहा । वैशाली का चातुर्मास समाप्त कर महावीर ने वत्सभूमि की ओर विहार किया । मार्ग मे अनेक स्थानो मे धर्म-प्रचार करते हुए वे कौशाम्बी पहुचे । वहा के राजा उदयन ने उनका भव्य स्वागत किया । उसी नगर मे जयन्ती नामक एक जैन-श्राविका रहती थी । वह विदुषी भी बहुत थी । उसने जब महावीर के उपदेश सुने तो वह गद्‌गद् हो गयी । अवसर पाकर उसने महावीर से अपनी अनेक शकाओ का निवारण भी किया । चक्षु, जिह्वा आदि इन्द्रियो के वशीभूत होकर जीव किस प्रकार कर्मबन्धन करता है तथा उससे छुटकारा कैसे सम्भव है, आदि प्रश्न करके जयन्ती ने विस्तार से अपनी जिज्ञासा को शान्त किया । तथा भिक्षुणी संघ मे उसने दीक्षा ले ली ।'

'भगवान महावीर केवल उत्तर भारत मे ही नही, अपितु पश्चिम भारत के प्रदेश मे भी धर्मप्रभावना के लिए विहार किया करते थे । एक बार वे चम्पा नगरी से सिन्धु की राजधानी वीतभयपत्तन को गये थे । वहा उन्होंने तत्कालीन राजा उदयन को श्रमणधर्म मे दीक्षित किया था तथा चतुर्मास के लिए पुन उत्तरभारत मे लौट आये थे ।'

एक बार अपनी साधना के अठारहवें वर्ष मे वे बनारस से राजगृह की ओर जा रहे थे । रास्ते मे आलविया नगरी पडती थी । वहा पोग्गल नामक एक परिव्राजक रहता था । महान् तपस्वी एव विभंग-ज्ञान का धारी, जिसके बल पर उसे भविष्य का ज्ञान भी हो जाता था । अत वह बहुत-सी बातो का प्रचार कर रहा था, जिन्हे महावीर के अनुयायी सत्य नही मानते थे । जब उस परिव्राजक ने वहा महावीर के आगमन की बात सुनी तो वह उनके दर्शन के लिए भी चला गया । दर्शन करते ही उसे अपने ज्ञान की थाह मिल गयी । वह महावीर के वचनो का श्रद्धालु हो गया तथा वही पर अपने

मत को छोडकर उसने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उसके साथ अन्य कितने लोग भी दीक्षित हुए। इस प्रकार महावीर आलभिया से, कौशाम्बी, विदेहभूमि, वैशाली आदि अनेक स्थानो पर भ्रमण करते हुए श्रमण-धर्म का उपदेश देते रहे। साधना के उनके वीस वर्ष पूरे हो गये। तीर्थङ्कर जीवन के आठ वर्षो मे उन्होंने आत्मकल्याण के मार्ग मे अपूर्व क्रान्ति कर दी थी। हजारो लोग उनके अनुयायी वन चुके थे।

इक्कीसवें वर्ष मे महावीर काकन्दी से श्रावस्ती होते हुए काम्पिल्य नगर मे पधारे। वहा कुण्डकोलिक गृहपति को श्रमणोपासक वनाकर वे घूमते हुए पोलासपुर पहुचे। वहा सद्दालपुत्र नामक एक कुम्हार रहता था। वह करोडपति था तथा सम्भ्रान्त नागरिक। वह आजीविक सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसकी पत्नी अग्निमित्रा भी आजीविक सम्प्रदाय की प्रमुख उपासिका थी।

उस दिन प्रातः वह सद्दालपुत्र अपने आराध्य गोशालक की अगवानी करने निकला था, किन्तु महावीर के दर्शन हो जाने पर वह अनुग्रह कर उन्हे ही अपनी भाण्डशाला मे लिवा लाया। महावीर भी अपने शिष्यो के साथ वहा ठहर गये। क्योकि वे उसे तत्वज्ञान से परिचित कराना चाहते थे। भाण्ड-शाला मे जव वह कुम्भकार अपने कार्य मे लीन था तो महावीर ने पूछा—'सद्दालपुत्र, यह वर्तन किस प्रकार वना है तथा इसमे किसका पुरुषार्थ लगा है ?'

उसने उत्तर दिया—'भगवन् ! यह वर्तन मिट्टी से क्रमश विकास करते हुए वना है। इसकी नियति मे वर्तन वनना निश्चित था। मैंने इसमे कोई पुरुषार्थ नही किया। सभी कार्य अपने निश्चित प्रारब्ध से होते हैं।'

महावीर ने पुन प्रश्न किया—'सद्दालपुत्र, यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे इन वर्तनो को चुराले या तोड-फोड डाले अथवा तुम्हारी पत्नी से अनाचार करने लगे तो तुम क्या करोगे ?'

सद्दालपुत्र ने जवाव दिया—'भगवन् ! मैं उस व्यक्ति को पकडकर मारूंगा तथा अपने नुकसान का वदला लूंगा। राजा से दण्ड दिलाऊगा, इत्यादि।'

महावीर ने समझाया—'भद्र ! तुम्हारे मत से तो प्रत्येक कार्य अपनी नियति के कारण होता है। अत वह व्यक्ति अपराधी कैसे होगा ? तुम उसे किस बात की सजा दोगे ?'

सद्दालपुत्र समझ गया कि नियतिवाद का सिद्धान्त कितना अव्यवहारिक है। वह श्रमण भगवान महावीर के चरणो मे नतमस्तक हो गया। अपनी पत्नी सहित उसने महावीर का उपदेश सुना एवं उनका अनुयायी बन गया। श्रावकधर्म का पालन करने लगा।

सद्दालपुत्र के धर्मपरिवर्तन का समाचार क्षण भर मे सारे नगर मे फैल गया। क्रमश आजीविकसघ के आचार्य गोशालक के कानो मे भी यह खबर पडी। वह चिन्तित हो उठा। इससे उसके सम्प्रदाय का प्रभाव कम हो जाने की आशका थी। गोशालक सद्दालपुत्र के समीप आया, किन्तु उसने उसकी कोई विनय आदि नही की। इस पर गोशालक ने उसे शान्ति से समझाया। किन्तु वह श्रमण-धर्म से विचलित नही हुआ। अन्त मे हार कर गोशालक वापिस चला गया। भगवान महावीर भी कुछ दिनो बाद वाणिज्य ग्राम की ओर विहार कर गये।

'बाईसवा वर्षावास महावीर ने राजगृह मे किया। वहा महाशतक गाथापति आदि ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। वहा से चलकर महावीर कचगला नगरी के छत्रपलास चैत्य मे पधारे। उस समय श्रावस्ती के समीप एक मठ मे गर्दवालि शिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। वह वैदिक साहित्य का पारगत विद्वान् था। तथा तत्त्वान्वेषी एव जिज्ञासु तपस्वी भी। सर्वप्रथम उसकी भेंट महावीर के शिष्य इन्द्रभूति गौतम से हुई। उन दोनो मे अनेक विषयो मे विचार-विमर्श हुआ। गौतम की विद्वत्ता से प्रभावित होकर स्कन्दक महावीर के दर्शन करने चला आया। उनके अलौकिक दर्शन-मात्र से स्कन्दक का हृदय प्रसन्नता से भर उठा। महावीर ने उसे शंका समाधान करने की अनुमति दी तो उसने द्रव्य के स्वरूप एव विस्तार आदि के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न पूछे। उनके समुचित उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने महावीर से पूर्णतया श्रमण-धर्म को सुना एव उनके पास दीक्षा ग्रहण करली।'

इस प्रकार भगवान महावीर की देशना का प्रभाव सर्वत्र विस्तृत होता जा रहा था। अन्य मत-मतान्तरो के साधु, गृहस्थ एव शासक अपने-अपने मतो की अपूर्णता समझकर महावीर के धर्म को स्वीकार करते चले जा रहे थे। महावीर की देशना से अज्ञान, अधर्म, अन्याय और पाखण्ड के झण्डे उखड रहे थे। आत्मस्वातन्त्र्य की भावना ने लोगो के मनोवल को वढा दिया था। अनेकान्त ने लोगो के वैपम्य को दूर कर दिया था। स्वस्थ्य चिन्तन की परम्परा सुदृढ हो रही थी। शास्त्रार्थ एव परम्परागत मतभेद तिरोहित हो रहे थे। इस प्रकार महावीर ने जो ज्ञान वडे श्रम और साधना से उपलब्ध किया था, उससे जनमानस लाभान्वित होने लगा था।

००

१६. करुणा का विस्तार

भगवान महावीर के तीर्थङ्कर जीवन की कथा सुनते हुए शिल्पीसमुदाय को असीम आनन्द की प्राप्ति हो रही थी। उससे अधिक सार्थक हो रहे थे आचार्य कश्यप कथा सुनाते हुए। महावीर ने जनकल्याण के लिए किन-किन स्थानो का भ्रमण किया, किन-किन व्यक्तियो को दीक्षा प्रदान की तथा कितने विभिन्न मतो के अनुयायिओ ने श्रमण-धर्म स्वीकार किया आदि सबकी कथा आचार्य कश्यप ने विस्तारपूर्वक अपने शिष्यो को सुनायी। मेधावी शिष्यो की जिज्ञासाओ का भी उन्होने समाधान किया। एक दिन प्रातः जब शिल्पीसघ पुन गुहाद्वार पर चातक-सा प्रतीक्षित बैठ गया तो आचार्य कश्यप की स्वाति नक्षत्र की बूदो जैसी वाणी स्वत झरने लगी।

'कलाकार बन्धुओ, भगवान महावीर की साधना का सत्ताईसवा वर्ष अनेक घटनाओ से पूर्ण है। गोशालक से पुन भेंट, उसके द्वारा दो मुनियो पर तेजोलेश्या का प्रयोग, जामालि से प्रश्नोत्तर तथा भगवान महावीर की बीमारी आदि महत्वपूर्ण घटनाए इसी वर्ष मे हुई थी। मैं उन सबके विस्तार मे नही जाना चाहता, किन्तु यह जरूर कहना चाहूगा, इन सब घटनाओ से महावीर के व्यक्तित्व का कौन-सा पक्ष उजागर होता है। उनकी करुणा की परिधि कितनी विस्तृत है ? इत्यादि।'

'मिथिला मे चातुर्मास्य समाप्त कर महावीर ने वैशाली होते हुए श्रावस्ती की तरफ विहार किया। श्रावस्ती मे पहुचकर वे कोष्ठक नामक चैत्य मे ठहरे। उन दिनो मक्खलिपुत्र गोशालक भी श्रावस्ती मे था। महावीर से अलग होने के बाद वह स्वय को तीर्थङ्कर मानता हुआ इस प्रदेश मे विचरण कर रहा था। श्रावस्ती मे 'हालाहला' कुम्हारिन और 'अयपुल' नामक गाथापति उसके परमभक्त थे। वह हालाहला की भाण्डशाला मे ही ठहरा हुआ था।'

महावीर के वहा पहुचने पर श्रावस्ती के मार्गों मे यह चर्चा जोरो मे चलने लगी कि एक समय मे एक ही नगर मे दो तीर्थङ्करो का विचरण हो रहा है। पता नही सर्वज्ञ कौन है? इन्द्रभूति गौतम ने इस सम्बन्ध मे जब महावीर से पूछा तो उन्होने कहा—'गौतम, गोशालक न सर्वज्ञ है, न तीर्थङ्कर। वह तेजोलेश्या का धारक और महानैमित्तक है, जिसके बल पर वह लोगो पर प्रभाव जमाये हुए है। कानो-कान होती हुई यह बात गोशालक को ज्ञात हुई। गोशालक इसका प्रतिवाद करने के लिए महावीर के पास जा पहुचा'।

महावीर को लक्ष्य करके उसने कहा 'भगवन्, मैं वह गोशालक नही हू, जिसने आपसे दीक्षा ली थी। मैं एक भिन्न आत्मा हू और अभी तक अनेक जन्म धारण कर लिये है। मैंने अपना ज्ञान स्वय अर्जित किया है तथा मैं सब कुछ जानने और करने मे समर्थ हू। अत आपको मेरे सम्बन्ध मे कुछ भी प्रलाप नही करना चाहिए।'

महावीर ने शान्त भाव से कहा—'गोशालक, तुम वही हो। भले कुछ ऋद्धिया तुमने प्राप्त करली हैं। किन्तु तुम सर्वज्ञ नही हो और न तीर्थङ्कर हो। अतः तुम्हे आत्मगोपन नही करना चाहिए।'

इन वचनो को सुनकर गोशालक का क्रोध भडक उठा। वह प्रलाप करता हुआ बोला—'काश्यप! अब तुम अति कर रहे हो। समझलो मेरे द्वारा तुम्हारा विनाशकाल आ गया है।'

गोशालक के इन अपमानजनक वचनो को सुनकर महावीर के एक विनीत शिष्य 'सर्वानुभूति' ने गोशालक को समझाया कि ये तुम्हारे गुरु रहे हैं। इनके प्रति तुम्हे इतने कठोर शब्द नही कहना चाहिए। सर्वानुभूति की इस हित शिक्षा ने गोशालक की क्रोधाग्नि को भडका दिया। उसने अपनी तेजोलेश्या को एकत्र करके सर्वानुभूति मुनि पर छोड दिया। मुनि का शरीर वही जल कर भस्म हो गया। उसने देवगति प्राप्त की।

गोशालक पुन महावीर को प्रताडित करने लगा। यह देख 'सुनक्षत्र' नामक मुनि ने उसे रोकने का प्रयत्न किया। समझाया। गोशालक ने उस मुनि के ऊपर भी तेजोलेश्या छोड दी। सुनक्षत्र क्षणभर मे प्राणमुक्त होकर देवलोक सिधार गया।

निरपराध दो मुनियो के बलिदान से भी गोशालक की क्रोधज्वाला शात नही हुई। महावीर ने जब उसे समझाना चाहा तो उसने पुन अपनी तेजोलेश्या को महावीर पर छोड दिया। किंतु तीर्थङ्कर का शरीर होने के कारण वह लेश्या वापिस लौटकर गोशालक के शरीर मे ही प्रविष्ट कर गयी। इससे उसका शरीर दग्ध होने लगा। किन्तु जोश मे उसने कहा कि मेरी लेश्या महावीर को छूकर लौटी है अत. वह छह महीनो के भीतर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। जबकि महावीर ने कहा 'गोशालक, मैं तो अभी सोलह वर्ष तक धर्मोपदेश देता हुआ विचरण करूगा, किन्तु तुम्हारी सात दिन के भीतर ही मृत्यु हो जाएगी। तुम्हे अपने कार्य के लिए प्रायश्चित कर लेना चाहिए।'

महावीर और गोशालक का यह प्रसग सारी श्रावस्ती मे फैल गया। लोग आशका करने लगे कि देखो अब क्या होता है ? किन्तु लोगो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब सातवें दिन गोशालक अनेक कष्टो को झेलता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके साथ ही आजीविक सम्प्रदाय भी निस्तेज हो गया। इस घटना से महावीर की सर्वज्ञता एव सहिष्णुता का प्रचार सर्वत्र होने लगा।

'आचार्यप्रवर ! घटना बडी ही मार्मिक सुनायी आपने। सुना जाता है कि महावीर जितने सर्वज्ञ थे, उतने ही अनन्तवीर्य से युक्त भी। पूर्ण सामर्थ्यवान। करुणा भी उनकी असीम थी जीवो के प्रति। फिर गुरुदेव ! उन्होने अपने ही शिष्यो को अपने ही समक्ष क्यो जल जाने दिया ? जबकि उन्होने एक बार गोशालक को भी तेजोलेश्या से बचाया था।'

'तुम्हारी शका समाचीन है, श्रीकण्ठ ! इसके उत्तर के लिए हमे इस कथानक की गहरायी मे उतरना पडेगा। महावीर ने जब साधनाकाल मे गोशालक को बचाया था वह श्रद्धा से भरा हुआ था। सत्य जानने का उत्सुक था इसीलिए जिज्ञासा कर रहा था। हो सकता है उस समय उसके चित्त की ऐसी दशा रही हो, जो आत्मोपलब्धि के मार्ग मे लग जायेगी। अत महावीर ने उसे बचा लिया। आत्मकल्याण के मार्ग मे सहायक होना ही उनकी करुणा है, जिसकी कोई शर्त नही होती कि आगे चलकर यह व्यक्ति कैसा होगा। महावीर प्रत्येक क्षण की चेतना के प्रति अपनी करुणा प्रगट करते हैं।'

यही स्थिति इन दो मुनियो के समय हुई। हो सकता है कि प्रथम मुनि हमेशा विनयी और शान्त रहा हो। किन्तु जब गोशालक ने क्रोध किया, अपना अहकार दिखाया तो सर्वानुभूति मुनि का भी अहकार उपस्थित हो गया हो कि मैं अपने आचार्य को बचा सकता हूँ। हो सकता है, क्षण भर के लिए उसके मन मे यह बात आ गयी हो कि भगवान महावीर को बचाकर मैं अपूर्व यश का भागी बन जाऊगा। महावीर तो प्रत्येक क्षण की खबर रखते हैं। अत जब उन्हे दिखा होगा कि यह गोशालक और मेरे मुनि की लडाई नही है, अपितु दो अहकारो और आकाक्षाओ का संघर्ष है तो उनके लिए उनकी करुणा जागृत न हो सकी होगी। क्योकि ऐसी अहकारी और आकाक्षामय चित्त मे उन्हे आत्मकल्याण की कोई सम्भावना दृष्टिगोचर नही हुई होगी।

दूसरी बात यह है कि हमे दिखाई पड रहा है कि यदि महावीर उन मुनियो को बचा लेते तो वे जिन्दा रह जाते। हम इससे अधिक देख भी नही सकते। किन्तु हो सकता है कि महावीर यह भी जान गए हो कि इन मुनियो की आयु अब चुक गई है। गोशालक मात्र निमित्त बन रहा है। अत. उन्हे बचाना अब निरर्थक है। महावीर का हर प्रयत्न सार्थकता की ओर ही रहा है। अत उनकी सबके लिए समान करुणा के विषय मे शंका की गुजाइश नही लगती। किन्तु ऐसे शान्त-द्रष्टा का कार्य सर्वज्ञ महावीर ही कर सकते हैं। गृहस्थ अथवा मुनि के लिए ऐसी स्थिति मे कुछ और ही कर्तव्य होता है।

'साधनाकाल के इतने वर्षो मे महावीर की बीमारी का प्रथम उल्लेख इस वर्ष के विचरण मे प्राप्त होता है। कहा जाता है कि गोशालक की तेजोलेश्या के प्रभाव से महावीर को छह माह तक पित्तज्वर से पीड़ित रहना पडा। उन्होंने जब कोई औषधि नही ली तब उनका एक शिष्य 'सिह' उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे बहुत चिंतित हो गया। उसकी चिता-निवारण के लिए उसके आग्रह पर महावीर ने मेढिका ग्राम की गाथापतिनी रेवती के यहा से औषधि मँगवाकर उससे स्वास्थ्य लाभ किया। भगवान महावीर की नीरोगता से सभी परम सन्तुष्ट हुए। बीमारी की यह घटना अनेक तथ्यो से मिलकर बनी है। महावीर की सहनशीलता एक नैमित्तिक की भविष्यवाणी की सत्यता,

शिष्यो के अपने गुरु के प्रति सेवाभाव, साधु के लिए गृहस्थो की उपयोगिता आदि अनेक तथ्य प्रतीको के माध्यम से उजागर हुए हैं। अन्यथा आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को सूक्ष्मता से देखने वाले महावीर के लिए इस प्रकार की व्याधिया कोई अर्थ नही रखती। किन्तु उनके श्रद्धालु अनुयायिओ के लिए इनकी अपनी सार्थकता है।'

००

१७. परम्परा और क्रान्ति की भेंट

'भगवान महावीर की देशना का अपूर्व प्रभाव तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों एव विद्वानो पर पड रहा था। अन्य मत-मतान्तरो का विसर्जन श्रमणधर्म मे आकर तो हो ही रहा था, किन्तु श्रमणधर्म की जो प्राचीन परम्परा थी—पार्श्वनाथ के धर्म की, वह भी महावीर के सघ एव धार्मिक-विचारो से प्रभावित होने लगी थी। यद्यपि पार्श्वनाथ की परम्परा और महावीर के शिष्यो का मिलन प्राय होता रहता था, किन्तु महावीर की साधना के अट्ठाईसवें वर्ष मे आचार्य केशी और गौतम का जो विचार-विमर्श हुआ वह इन दोनो परम्पराओ की विशेषताओ को जानने के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।'

जब भगवान महावीर कौशल भूमि मे विहार कर रहे थे, उसी समय इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्यो के साथ श्रावस्ती की ओर विहार कर गये। उन दिनो पार्श्वपत्य केशीकुमार श्रमण भी श्रावस्ती मे थे। दोनो के शिष्य-समुदाय मे जब इस बात की चर्चा होने लगी कि श्रमणधर्म के अनुयायी होने पर भी हम लोगो मे भिन्नता क्यो है कई बातो को लेकर? तब इन दोनो आचार्यों ने मिल-बैठकर कुछ समाधान निकालने का निश्चय किया। इन्द्रभूति गौतम आचार्य केशी के निवासस्थान पर आये। केशी ने उनका समुचित आदर किया एव वार्तालाप करने की अनुमति चाही। गौतम इसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। इन दोनो मे श्रमणधर्म के विभिन्न सिद्धान्तो, चातुर्याम एव पाच-महाव्रतिक धर्म, चेलक एव अचेलक आचरण, तपश्चर्या, आदि के सम्बन्ध मे पर्याप्त चर्चा हुई। आचार्य केशी ने पूछा और इन्द्रभूति गौतम ने उत्तर दिये। केशी उनसे बहुत प्रभावित हुए। कहा जाता है कि केशी ने महावीर के पचमहाव्रतरूपी धर्म को स्वीकार कर लिया था, किन्तु वस्त्र पहिनने आदि के सम्बन्ध मे उन्होंने देशकाल एवं साधु के सामर्थ्य व इच्छा को ही प्रधानता दी थी। सम्भवत आगे चलकर इन आचार्यों के विचार-विमर्श

के आधार पर श्रमणधर्म दो परम्पराओ मे विभक्त हो गया था।

जैनधर्म के इतिहास मे इस सम्मेलन का अपना महत्त्व है। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट होता है कि स्वय महावीर की उपस्थिति मे व्यक्ति को अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने की सुविधा प्राप्त थी। आत्मा स्वतन्त्र चेता है और उसके अनुभवो की अभिव्यक्ति भी दूसरी आत्मा से भिन्न होगी। इस बात को ध्यान मे रखते हुए सम्भवतः महावीर अनुकरण के पक्षपाती नही थे। चिन्तन को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति दी जा सके यही उनकी जीवन की साधना थी। क्रान्ति थी।'

'इस वर्ष के भ्रमण मे महावीर ने हस्थिनापुर के राजो शिव को, जो दिशा-प्रोक्षक तापस हो गये थे, उनके मिथ्यात्व से अवगत कराया तथा तत्व-दर्शन का सम्यग्रूपेण निरूपण किया, जिससे वे बहुत प्रभावित हुए। अन्त मे उन्होने अपने पूर्व मत को छोडकर श्रमणधर्म स्वीकार किया एव महावीर के समक्ष ही निर्वाण को प्राप्त हो गये।'

भगवान महावीर ने अपनी साधना के २९वें वर्ष मे श्रमणधर्म के अन्य सिद्धान्तो का उपदेश दिया तथा दूसरे मतो की समीक्षा करते हुए उनकी निस्सारता प्रदर्शित की। ३०वें वर्ष मे जब वे वाणिज्य ग्राम मे पधारे तो उन्होने वैदिक पडित सोमिल की शकाओ का समाधान कर उसे श्रमणधर्म मे दीक्षित किया। ३१वे वर्ष मे उन्होंने काम्पिल्य नगर से गुजरते हुए श्रमणोपासक 'अम्भड' के सम्बन्ध मे गौतम को बताया कि यह व्यक्ति परिव्राजक का बाह्यवेश रखते हुए भी पूर्णरूप से जैन श्रावको के व्रतो का पालन करता है। तथा इसीके फलस्वरूप इसे निर्वाण की प्राप्ति भी होगी। ३२वें वर्ष मे महावीर ने पाश्वपत्य मुनि गागेय के प्रश्नो का समाधान किया। ३३वें वर्ष मे उन्होने गौतम को अन्य तीर्थिको की मान्यताओ से परिचित कराया एव उनकी अप्रामाणिकता और निष्फलता को प्रतिपादित किया।'

इस प्रकार आचार्य कश्यप भगवान महावीर के प्रत्येक वर्षावास के कार्यों एव साधना की कथा प्रतिदिन शिल्पी-समुदाय को सुनाते रहे। साधना के ४२ वर्षों मे महावीर ने जितना भ्रमण किया, जितने लोगो को दीक्षित किया एव प्राणीमात्र के कल्याण के लिए जो कुछ भी उन्होने किया वह सब आचार्य

कश्यप ऐसे सुनाते रहे जैसे इन सब घटनाओ के वे प्रत्यक्षदर्शी रहे हो। हो सकता है, किसी एक परम्परा को कोई घटना याद हो, दूसरी परम्परा को कोई अन्य प्रसग। किन्तु आचार्य कश्यप उन सबको सुनाकर उनके भीतर छिपे हार्द को स्पष्ट करते रहे ताकि महावीर का व्यक्तित्व किसी भी कोण मे अनदेखा, अनसमझा न रह जाय। वास्तव मे उन्होंने महावीर के अनेकान्त के सिद्धान्त को स्वय उनकी जीवनी पर ही घटित कर दिखाया। शिल्पी-समुदाय महावीर की साधना के १२ वर्ष एव तीर्थङ्कर जीवन के ३० वर्ष कुल व्यालीस वर्षो की कथा सुनकर अविभूत हो गया उनके व्यक्तित्व, साधना और आत्मोपलब्धि के प्रति। उन्हे ऐसा लगने लगा कि महावीर के ये प्रसग, भगिमाएं एव अलौकिक गुण उदयगिरि की इस गुफा के चारो ओर मडराने लगे हैं। उन्हे पकडने भर की देर है, तब गुहा की ये चित्तभित्तिया अधूरी न रहेंगी। व्यक्ति के मानस भी विभिन्न अनुभूतिरूपी रग-विरगो से आपूरित हो जायेंगे।

०

१८. महापरिनिर्वाण

'आयुष्मति कनकप्रभा ! अब तक की कथा मैं आप सबको सहर्ष सुनाता रहा । प्रफुल्ल मन से । किन्तु भगवान महावीर के जीवन के अन्तिम वर्ष की यह कथा कह भी पाऊ गा या नहीं, कुछ भरोसा नही है । उनके परिनिर्वाण का प्रसग आते ही मेरी आखें भर जाती हैं । इतने वर्षो बाद भी मुझे लगने लगता है वे मेरे समक्ष ही ससार से उर्ध्वगमन कर रहे हैं । मैं लुटा-लुटा-सा उस परमज्योति को जाते हुए देख रहा हू । किन्तु भद्र ! आज मैं ममता-मोह को पास नही आने दू गा । अपनी भावुकता किनारे ही रखू गा । क्योकि यदि मैंने महावीर के परिनिर्वाण का प्रसग आपको नही सुनाया तो आपकी कला को पूर्णता कैसे मिलेगी ? गुहा की भीतरी दीवार पर जिस चित्रभूमि को वृद्ध कलाकार पूर्णकलश और कनकप्रभा ने सबसे अधिक परिश्रम से तैयार किया है, वह सूनी की सूनी न रह जायेगी ? फिर कौन भरेगा उसमे रग ? अत आप सब आज गुफा के उसी स्थान पर चलकर बैठें, जहाँ से मैंने कथा प्रारम्भ की थी ।'

उदयगिरि की वह गुहा एव उसमे निर्मित चित्रभूमिया आज सार्थक होने को थी । समस्त शिल्पी-समुदाय शान्त हो वहा बैठा था । आचार्य कश्यप शून्य मे निहारते हुए कथा की पूर्णाहुति करने की शक्ति सजो रहे थे । क्षणभर बाद उनका चिरपरिचित स्वर गू ज उठा—

'महावीर अन्तिम चातुर्मास पावा नगरी मे व्यतीत करने के लिए वहा के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा मे पधारे और वही वर्षाकाल मे रहने की स्थिरता की । इन चार महीनो मे आपके पास दर्शनार्थियो का ताता लग गया । हर प्राणी आपके दर्शन कर अपना जीवन सफल कर लेना चाहता था । महावीर ने इस वर्षावास मे श्रमणधर्म की विषद व्याख्या प्रस्तुत की । यद्यपि आपने इन तीस वर्षो मे लाखो प्राणियो को श्रमणधर्म का उपदेश दिया था ।

प्रत्येक दार्शनिक गुत्थी को आपने सुलझाया था। दृष्टान्तो से तत्वमीमासा को प्रस्तुत किया था। किन्तु इस वार आपने समस्त तत्वज्ञान का समापन इस प्रकार किया कि ज्ञानियो ने निधिया पा ली। अज्ञानियो की आखें खुल गयी।

भगवान महावीर ने कहा कि 'जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड, ये दो विश्व के मूल तत्त्व हैं, जो आदित परस्पर सम्बद्ध पाये जाते हैं। चेतन की मन, वचन व कायात्मक क्रियाओ द्वारा इस जड-चेतन सम्बन्ध की परम्परा प्रचलित रहती है। इसे ही कर्माश्रव या कर्मवन्ध कहते हैं। यमो, नियमो आदि के पालन द्वारा इस कर्माश्रव की परम्परा को रोका जा सकता है तथा सयम और तप द्वारा प्राचीन कर्मवन्ध को नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार चेतन का जड से सर्वथा मुक्त होकर, अपना अनन्तज्ञान-दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए, जिससे इस जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके। इस लक्ष्य प्राप्ति की यात्रा कोई भी प्राणि, कही से भी प्रारम्भ कर सकता है तथा अपने पुरुपार्थ एव पूर्णजागृति के माध्यम से गन्तव्य तक पहुच सकता है।'

'महावीर की इस सारभूत देशना ने उस समय उपस्थित चेतनाओ मे नये प्राण फूंक दिये। यह उपदेश अखण्ड रूप से कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी तक चलता रहा। महावीर इस प्रकार की प्रशान्त और गम्भीर मुद्रा मे वोल रहे थे कि देखने वालो को विश्वास नही आ रहा था कि आज इनका निर्वाण होने वाला है। महावीर की मुखमुद्रा और निर्वाण पर्यायवाची जैसे लगते थे। और रात्रि के अन्तिम प्रहर मे श्रमण भगवान महावीर का परिनिर्वाण हो गया। वे क्षणभर मे सव कर्मो से मुक्त हो गए।'

'भद्र चित्रागद! आत्मोपलव्धि का वह अपूर्व क्षण था। श्रमणधर्म के प्रस्तुतिकरण का सर्वोच्च शिखर। एक परमज्योति का उर्ध्वगमन हुआ था, किन्तु कई ज्योतियो ने जन्म ले लिया था। उस समय वहा नौ लिच्छवी, नौ मल्ल और अठारह काशी-कौशल आदि के गणराजा-महाराजा उपस्थित थे। पुण्यशाली थी वे विभूतियाँ, जो उस मानवता के पुजारी का सानिध्य पा सकी। जैसे ही उन्हे लगा कि संसार से एक भावात्मक ज्योति उठ गई तो उन्होंने निश्चय किया—'आज के दिन हम द्रव्यात्मक प्रकाश जगमगायेंगे।' क्षणभर

वाद वह पावा नगरी दीपो से जगमगा उठी। ऐसा लग रहा था उस परम-ज्योति से गाव-गाँव, नगर-नगर तथा धरती का कण-कण जगमगा उठा है। तवसे कार्तिक अमावस्या को दीपावली मनाने का क्रम चल पडा।'

'भद्र ! अपने गुरुकुल का दीप-स्तम्भ भी तो इसीलिए आप इतने उत्साह से प्रज्वलित करते रहे हैं। इस बार आपने अपनी जिज्ञासाओ के दीप जलाकर उसे सार्थक कर दिया है। दीपावली पर्व ही ऐसा है। प्रत्येक दीप उस महान् विभूति की साधना की कथा कहता है। दिया का आकार सम्पूर्ण समवसरण का प्रतीक है और उस महावीर की देशना का प्रतीक है—नन्ही-सी दीप-शिखा, जो प्रत्येक अमावस्या की रात्रि को पूनम की चादनी मे बदल देने का निमन्त्रण देती है। धन्य है उस त्रिशलापुत्र महावीर की जीवनगाथा, जिसने जनमानस के आगन को विवेक के दियो से जगमगा दिया है। अब नही रहेगी कोई डगर अंधेरी और न ही सूनी रहेगी इस गुहा की ये चित्रभित्तिया। उस परम-ज्योति को मेरे अनन्त प्रणाम।'

कथा मे विराम आते ही शिल्पी-समुदाय उस पावा नगरी के प्रागण से गुहा मे लौट आया। देखा—सामने आचार्य कश्यप शान्त होकर बैठे हैं। उनके नयनो मे तैर रहे हैं मानसरोवर के हसनुमा मोती। किसी को सुध नही है कि अब आगे क्या करना है, क्या कहना है ? क्षणभर बाद आचार्य कश्यप ने ही मौन तोडा—

'कलाकार बन्धुओ ! आपने वडी धीरजता और शान्त मन से मेरी बात सुनी। कितने आप श्रावक हुए है, यह आपकी कला बतायेगी। महावीर की जीवन-कथा मे मेरा इतना ही प्रवेश था। रह गयी बात उनके शिष्यो की, उपदेशो की तथा इन बदलती हुई परिस्थितियो मे उनकी अनुभूतियो की सार्थकता की, सो उसे भी मैं कहूँगा। इसलिए नही कि मुझे भावी समाज का मार्ग-दर्शन करना है, बल्कि इसलिए कि जब आप अपनी कला को साकार करें तो वह मात्र तथ्य की संवाहक न हो, अपितु उससे सत्य भी उजागर हो। मेरी दृष्टि मे कला की यही सार्थकता है। आप सब अब कल प्रातःकाल यही पर पुनः उपस्थित हो, तब तक के लिए हम सब विदा लेते हैं।'

००

१६. शिष्य-परम्परा

सूर्य की किरणो के साथ ही शिल्पी-सघ ने गुहा मे प्रवेश किया। आश्चर्य हुआ उन्हे यह देखकर कि आचार्य कश्यप पहले से ही वहा व्यासपीठ पर विराजमान है। उनकी बोझिल पलको से स्पष्ट हो रहा था कि वे रात्रि भर जागरण करते रहे हैं। सम्भवत इसलिए कि भगवान महावीर के निर्वाण का क्षण कही उनकी दृष्टि से चूक न जाय। आगे की कथा वे वहा स्थित होकर कहना चाहते थे, जहा से महावीर ने महाप्रयाण किया था। और उनकी थाती शिष्यपरम्परा ने ग्रहण की थी। सुश्री कनकप्रभा के आसन ग्रहण करते ही आचार्य ने कथा का सूत्र पकड लिया—

'भद्र ! अभी तक हम भगवान महावीर की साक्षात् उपस्थिति मे उनके जीवन का दर्शन कर रहे थे। अब हम उनके ज्ञान एव चेतना की साक्षी मे आगे बढेंगे। आपको ज्ञात है कि महावीर के पूर्व श्रमणधर्म की प्राचीन परम्परा थी। निश्चित ही उसके आचार्य भी रहे होगे। किन्तु महावीर ने अपना गुरु किसी को नही बनाया था। जो व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए इतनी स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन का पक्षपाती रहा हो, निश्चित रूप से उसने दूसरो के लिए भी आत्मदर्शन के मार्ग मे परापेक्षी बनने को नही कहा होगा। अर्थात् जिसका कोई गुरु नही था, वह अपने शिष्य बनाने मे भी अधिक उत्सुक नही रहा होगा। क्योकि उसे शिष्यो द्वारा अपनी किसी आकाक्षा की पूर्त्ति करना शेष नही रह गया था। वह अपने जीवन मे स्वय इतनी जागृति कर गया था, जिससे आत्मकल्याण की ओर अग्रसित आत्माए अपना मार्ग स्वय देख सकती थी।

दूसरी बात, महावीर को जिसने अपना गुरु माना होगा उसकी दृष्टि उनके कार्यों का अनुकरण करने की नही रही होगी। महावीर की आत्मा से जैसे ही किसी आत्मदर्शनाभिलापी का सवाद हुआ होगा, वह समस्त द्वन्दो के

विसर्जन मे लग गया होगा। उसे महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार करने की वजाय, महावीर हो जाने मे अधिक आनन्द दिखा होगा। अत यदि हम महावीर के शिष्यो की वास्तविक गणना करना चाहे तो सम्भव नही है। क्योकि इतिहास मे इसका कोई लेखा-जोखा नही है कि महावीर की परम-ज्योति से कितनी आत्माए प्रज्वलित होकर शान्त हो गयी हैं। आवागमन से मुक्त।

लेकिन फिर भी महावीर की शिष्यपरम्परा का शास्त्रो मे पूरा इतिहास है। वहुतो का मात्र नामोल्लेख है और कई के जीवनवृत्त का भी परिचय मिलता है, ऐसी शिष्य-परम्परा होने का भी कारण है। प्रत्येक महापुरुष के अनुयायी दो प्रकार के होते हैं—स्रोता और श्रावक। एक को आराध्य देव के वचनो की पकड होती है। उनके माध्यम से वह आत्मकल्याण के मार्ग तक पहुचता है। दूसरे को आराध्य की चेतना का स्पन्दन पकड मे आता है। वह सीधे आत्मा की निकटता का अनुभव करने लगता है। ऐसे लोगो को अन्तर्मुहूर्त मे परमज्ञान उपलब्ध हो जाता है। अत प्रथम प्रकार के अनुयायिओ, श्रोताओ, के लिए शास्त्र वनते है, जिनकी पूरी व्यवस्था के लिए एक शिष्य-परम्परा गतिशील होती है। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद भी यही हुआ है।

इस वात को स्पष्ट रूप से समझ ले। जिस प्रकार अनुयायी दो प्रकार के हो सकते हैं, उसी प्रकार आचार्य भी। एक वे जो चुपचाप आत्मोपलब्धि एव ज्ञान की साधना मे लग जाते है तथा क्रमश मुक्त हो जाते हैं। दूसरे वे, जो ज्ञान उपलब्ध करने मे जितने समर्थ होते हैं, उतने ही उसको अभिव्यक्ति देने मे, अत ऐसे आचार्यों द्वारा महापुरुष की वाणी सुरक्षित रखी जाती है। उसकी व्याख्या की जाती है। और यही आचार्य इतिहास के विषय बनपाते हैं। शिष्य-परम्परा के सवाहक। जैन आगम ग्रन्थो मे महावीर के ऐसे शिष्यो व आचार्यों का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है।

'भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रमणसघ के नायकत्व का भार क्रमश उनके तीन शिष्यो—गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ने सभाला। इनका काल क्रमश १२,१२ एव ३८ वर्ष, कुल ६२ वर्ष पाया जाता है। इनको

केवली भी कहा गया है। किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य-परम्पराए, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायो मे पृथक्-पृथक् पायी जाती हैं। अत यहा से सम्प्रदाय भेद के बीज श्रमणसघ मे प्रारम्भ हो जाते हैं, जो किसी भी गतिशील धर्म के लिए स्वाभाविक हैं।

दिगम्बर-परम्परा मे उपर्युक्त तीन केवली—गौतम, सुधर्मा एव जम्बू—, विष्णु आदि पाच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पाच एकादश अगधारी तथा सुभद्र आदि चार एकागधारी आचार्यों की वशावली मिलती है। इन समस्त अट्ठाईस आचार्यों का काल ६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है। अत महावीर के निर्वाण के बाद लगभग सात सौ वर्षों तक इन आचार्यों ने महावीर की वाणी का प्रचार एवं प्रसार किया। इनके विशेषणो से स्पष्ट होता है कि क्रमश इनके ज्ञान एव स्मरणशक्ति मे देशकाल के प्रभाव से ह्रास होता गया है।

इन आचार्यों के बाद किसी समय अर्हद्बलि आचार्य हुए। उन्होने एक मुनि सम्मेलन किया तथा नदि आदि नामो से अनेक सघ स्थापित किये। बाद मे दक्षिण भारत मे अनेक जैन आचार्यों के सघ स्थापित होते रहे एव उनके द्वारा जैनधर्म के सिद्धान्तो का प्रचार किया जाता रहा। इन आचार्यों की परम्परा मे कुन्दकुन्द, उमास्वामि एव अकलक आदि प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिन्होने न केवल जैन सिद्धान्त शास्त्रो की रचना की है, अपितु अन्य धर्मो के आचार्यों से शास्त्रार्थ कर श्रमण-धर्म की श्रेष्ठता भी प्रतिपादित की है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे महावीर की शिष्य-परम्परा का प्रारम्भ महावीर-कालीन ग्यारह गणधरो से होता है। इनके सम्बन्ध मे 'कल्पसूत्र' से विशेष जानकारी मिलती है। इनके शिष्यो की सख्या लगभग चार हजार बतायी जाती है। इन ग्यारह गणधरो मे से नौ का निर्वाण महावीर के जीवनकाल मे ही हो गया था। इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा महावीर के पश्चात् भी जीवित रहे। इन ग्यारह गणधरो का महावीर की शिष्य-परम्परा मे विशेष महत्व है। इनके नाम हैं—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्य, सुधर्म, मडित मौर्य, मौर्य, आकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य एव प्रभास। इनका जीवन-वृत्त जैनागमो मे उपलब्ध है। उसे सक्षेप मे इस प्रकार जाना जा सकता है।

'ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे। किन्तु महावीर के पास दीक्षित होकर सबने द्वादशाग का ज्ञान प्राप्त किया अत. सब चतुर्दश पूर्वधारी और विशिष्टलब्धियो के ज्ञातक थे।'

'इन ग्यारह गणधरो मे से आर्य सुधर्म की शिष्य-परम्परा ही आगे चली। सुधर्म से लेकर आर्य शाण्डिल्य तक तेतीस आचार्यों की गुरु-शिष्य-परम्परा स्थविरावली मे प्राप्त होती है। छठे आचार्य आर्य यशोभद्र के दो शिष्य सभूति विजय और भद्रबाहु द्वारा दो भिन्न-भिन्न शिष्य-परम्पराए चली थी। सातवें स्थविर आर्य स्थूलभद्र के द्वारा भी श्वेताम्बर आचार्यों की परम्परा गतिशील हुई है। 'तेरासिय', कोशाम्बिक, उद्देहगण, भद्रयशीय कुल, श्रावस्तिका, सौराष्टिका, माध्यमिका, विद्याधरी शाखा आदि अनेक आचार्यों की शाखाए थी।

इन विविध शाखाओ व कुलो की स्थान व गोत्र आदि भेदो के अतिरिक्त अपनी-अपनी क्या विशेपता थी, इसका पूर्णत पता लगाना मुश्किल है। इनके प्रत्येक के काल के सम्बन्ध मे भी कोई विशेष निर्देश नही हैं। श्वेताम्बर-परम्परा मे भी उमास्वामि को वही मान्यता प्राप्त है, जो दिगम्बर-परम्परा मे। आचार्य सिद्धसेन इस परम्परा के प्रकाण्ड विद्वान् थे, जिन्होने प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर जैन दर्शन को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया है।

'महावीर के चतुर्विध संघ मे साध्वीसंघ भी महत्वपूर्ण रहा है। किन्तु जिस प्रकार आचार्यों की नामावली व शाखाओ-उपशाखाओ का उल्लेख मिलता है, वैसा साध्वियो की शिष्या-परम्परा का वर्णन प्राप्त नही है। यद्यपि इनकी सख्या हमेशा सघ मे साधुओ से अधिक रही है। परम्परा से सुना जाता है कि महावीर की शिष्याओ मे सती चन्दनबाला प्रमुख थी, जिसके साथ छत्तीस हजार अन्य साध्विया थी तथा सुलसा, रेवती, जयन्ती आदि तीन लाख श्राविकाएँ भी दीक्षित थी। इनमे से चन्दनवाला का प्रसग मैंने पहले आपको सक्षेप मे सुनाया था। उसकी सम्पूर्ण कथा भी सुनें।'

○ ○

२०. साध्वी संघ-प्रमुखा

'चन्दनवाला चम्पा नगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी थी। माता-पिता द्वारा आपका नाम वसुमति रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनवन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रखकर चम्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह मे रहने लगा। शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पा नगरी मे नियुक्त किये। कुछ ही दिनो के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरो से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है। एक रात्रि को शतानीक अपनी सेनाओ के साथ चम्पा जा पहुचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारो ओर से घेर लिया।

इस अचानक आक्रमण से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक् रह गये। अपने आपको शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकावला कर सकने की स्थिति मे न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपत्कान्नीन बैठक वुलाकर गुप्त मन्त्रणा की। अन्त मे मन्त्रियो के प्रवल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्यागकर वीहड वनो की राह पकडनी पडी।

शतानीक की सेनाओ ने अवसर पाकर यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमति सहित शतानीक के एक सेनापति द्वारा पकडली गईं। वह उन दोनो को अपने रथ मे डालकर कौशाम्बी की ओर द्रुत गति से लौट पडा। महारानी धारिणी के देवागना तुल्य रूप लावण्य पर मुग्ध हो वह सेनापति राह मे मिलने वाले अपने परिचित लोगो से कहने लगा—'इस लूट मे इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। घर पहुचते ही मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊंगा।'

इतना सुनते ही महारानी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी।

महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक आकिंचन व्यक्ति के मुह से इस प्रकार की बात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुचा। अपने सतीत्व पर आँच आने की आशका से धारिणी सिहर उठी। उसने अपनी पुत्री वसुमति को सब कुछ समझाकर अपना प्राणान्त कर लिया।

धारिणी के इस आकस्मिक अवसान से सेनापति को अपनी भूल पर आत्मग्लानि के साथ-साथ बडा दु ख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी कुलवधु को उसकी-इच्छा के विना अपना नही वनाया जा सकता। अपनी मा की इस आकस्मिक मृत्यु से भयभीत हो कही यह वालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे अत उसने वसुमति को मृदु वचनो से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

राजकुमारी वसुमति को लेकर वह सेनापति कौशाम्बी पहुचा और उसे विक्रय के लिए वाजार के चौराहे पर खडा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त होकर अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिए खडी वालिका को देखा। उसने कुसुम-सी सुकुमार वालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई वहुत बडे कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से विछुड गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सेनापति को मुहमागा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसुमति को लेकर अपने घर पहुचा।

धनावह ने वडे दुलार से वालिका के माता-पिता एव उसका नाम पूछा -पर स्वाभिमानिनी वसुमति ने अपना नाम तक नही वताया। वह मौन ही रही। अन्त मे लाचार होकर धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—'यह वालिका किसी श्रेष्ठ कुल की प्रतीत होती है। इसे अपनी ही पुत्री समझकर वडे दुलार और प्यार से रखना।'

श्रेष्ठि पत्नी ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ मे वसुमति को अपनी पुत्री के समान ही रखा। वसुमति श्रेष्ठि-परिवार मे घुल-मिल गई। उसने मृदु सम्भाषण, व्यवहार एव विनय आदि सद्गुणो से श्रेष्ठि-परिवार के हृदय मे दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल

सुखद स्वभाव के कारण वसुमति उस श्रेष्ठि-परिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

चन्दना ने जव कुछ समय वाद यौवन मे पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि वढकर उसकी पिण्डलियो से अठखेलिया करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठि-पत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्वल्य जग पडा। उसके अन्तर मे कलुपित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा—'यह अलौकिक रूप लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीनकर गृह-स्वामिनी वन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते है। पर यदि उन्होने कही इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अत फूलने-फलने से पहले ही इस विष लता को मूलत उखाड फेंकना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

दिन-प्रति-दिन मूला सेठानी के हृदय मे ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई। वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिए हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप मे चलकर धनावह वाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिए अपने सेवको को पुकारा। पर सयोग-वश उस समय वहा कोई भी सेवक उपस्थित नही था। धूप से श्रान्त धनावह को खडे देखकर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूडा खुल गया और उसकी केशराशि विखर गई। चन्दना के वाल कही पानी मे न भीग जाये इस दृष्टि से सहज सन्तति-वात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ से ऊपर उठाकर उसका जूडा वान्ध दिया।

मूला ने सयोगवश जव यह सव देखा तो उसने अपने सदेह को वास्तविकता का रूप दे डाला। उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोडी ही देर वाद जव श्रेष्ठि धनावह किसी कार्यवश दूसरे गाव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को वुलाकर चन्दना के मस्तक को मुडित करवा दिया। मूला ने वड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भरकर पीटा। तदनन्तर उसके हाथो

मे हथकडी एव पैरो मे वेडी डालकर उसे एक भवरे मे वन्द कर दिया। और अपने दास-दासियो एव कुटुम्व के लोगो को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठि द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने चन्दना के सम्वन्ध मे कुछ भी वता दिया तो वह उसका कोप-भाजन वनेगा।

चन्दना तीन दिन तक एक तलघर मे भूखी प्यासी वन्द रही। तीसरे दिन जव धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सवध मे पूछताछ की। सेवको को मौन देखकर धनावह को शका हुई। उसने क्रुद्ध स्वर मे चन्दना के सम्वन्ध मे सच-सच वात वताने के लिए कडक कर कहा—'तुम लोग मूक की तरह चुप क्यो हो, वताओ पुत्री चन्दना कहा है ?'

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस वटोर कर उसे सारा हाल कह सुनाया। तलघर के कपाट खोलकर ज्योही धनावह ने चन्दना को उस दुर्दशा मे देखा तो वह रो पडा। चन्दना के भूख और प्यास से मुर्झाये हुए मुख को देखकर वह रसोई घर की ओर लपका। उसे सूप मे कुछ उडद के वाकलो के अतिरिक्त और कुछ नही मिला। वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवरुद्ध कण्ठ से वोला—'पुत्री, अभी तुम इन उडद के बाकलो से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हू।'

यह कहकर धनावह किसी लोहार की तलाश मे तेजी से बाजार की ओर चला गया।

भूख से पीडित होते हुए भी चन्दना ने मन मे विचार किया—'क्या मुझ हतभागिनी को इस अतिदयनीय विषम अवस्था मे आज विना अतिथि को खिलाये ही खाना पडेगा ? कोई अतिथि आ जाता तो उसे खिलाकर फिर मैं खाती। किन्तु मेरे ऐसे भाग्य कहा ?'

अपने इस दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आखो मे अश्रुओ की अविरल धारा फूट पडी। उसने अतिथि की तलाश मे द्वार की ओर देखा। सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान मुख-मण्डल वाले अति कमनीय, और सुन्दर एक तपस्वी साधु उसकी ओर आ रहे

है। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओ का सागर क्षण भर मे ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरदपूर्णिमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ मे लेकर उठी। बेडियो से जकडे अपने एक पैर को बडी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्ष-गद्गद स्वर मे अपने अतिथि से प्रार्थना की—"प्रभो, यद्यपि ये उडद के बाकले आपके खाने योग्य नही है फिर भी मुझ अबला पर अनुग्रह करके इन्हे ग्रहण कीजिए।'

'अपने अभिग्रह की पूर्ति मे कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुखित हो चन्दना के मुख से सहसा ये शब्द निकल पडे—'हाय रे दुर्दैव। इससे बढकर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आगन मे आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है।'

इस शोक के आघात से चन्दना की आखो से पुन अश्रुओ की धारा बह चली। अतिथि ने यह देखकर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्ते पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढा दिया। चन्दना ने हर्षविभोर होकर श्रद्धा से सूप मे रक्खे उडद के बाकलो का अतिथि को आहार दिया।

यह अतिथि और कोई नही, श्रमण भगवान महावीर ही थे। तत्क्षण 'महा दान, महा दान' के दिव्य घोष और देव दुन्दुभियो के स्वर से गगन गूज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रो की देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवो ने धनावह सेठ के घर स्वर्ण मुद्राओ की वर्षा की। सुगन्धित मन्द मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के सहस्त्रो नर-नारी वहा एकत्रित हो गए और चन्दना के भाग की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर केशराशि पुन उद्भुत हो गई। चन्दना के पैरो मे पडी लोहे की बेडिया सोने के नूपुरो मे और हाथो की हथकडिया कर-ककणो के रूप मे परिणत हो गई। देवियो ने उसे दिव्य आभूषणो से अलकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियो से जडे मुकुट को धारण किए हुए स्वय देवेन्द्र वहा उपस्थित हुए और उन्होने भगवान को वन्दन करने के पश्चात्

न्दना का अभिनन्दन किया ।

कौशाम्बीपति भी महारानी मृगावती एव पुरजन-परिजन आदि के साथ धनवाह के घर आ पहुचे । उनके साथ बदी के रूप मे आए हुए दधिवाहन के अंगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरो मे गिरकर रोने लगा । जब शतानीक और मृगावती को उस अगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अक मे भर लिया ।

इन्द्र ने शतानीक से कहा चन्दनबाला भगवान को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या बनेगी । तथा अपना आत्म-कल्याण करेगी । यह भोगो से नितान्त विरक्त है । इसलिए इसका विवाह करने का प्रयत्न न किया जाए । तत्पश्चात् देवेन्द्र और देवगण अपने-अपने स्थान को लौट गए । महाराजा शतानीक भी महारानी मृगावती व चन्दनबाला के साथ राजमहलो मे लौट आए ।

चन्दनबाला राजप्रासादो मे रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी । आठो प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आए जब भगवान महावीर को केवलज्ञान हो और वह उनके पास दीक्षित होकर संसार सागर को पार करने के लिए अथक प्रयास करे ।

भगवान को केवलज्ञान होने पर चन्दनबाला ने प्रभु से दीक्षा ग्रहण की और भगवान के श्रमणीसघ का समीचीन रूप से सचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओ से अपने कर्म-समूह को भस्मसात् कर आत्म-स्वरूप को प्राप्त किया ।

इस प्रकार भगवान महावीर की शिष्यपरम्परा मे अनेक विद्वान् एव विदुषिया सम्मिलित थी, जिन्होने उनके विचारो और साधनाओ का मानव-कल्याण के हित मे चतुर्दिक प्रचार किया है । इसके लिए दो प्रकार के साधन उन्होने अपनाए । एक तो स्वय अपने जीवन की साधना व तपस्या द्वारा तथा अपनी विद्वत्ता से सैद्धान्तिक साहित्य के निर्माण द्वारा उन्होंने भगवान महावीर की विरासत को सुरक्षित रखा । आज हमारे समक्ष आचार्यो द्वारा सुरक्षित साहित्य उनकी स्मृति स्वरूप अवशिष्ट है ।

भगवान महावीर के वचनो को जिस साहित्य मे समाहित किया गया है उसे आगम कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि महावीर ने जो कुछ भी कहा था उसे गणधरो ने धारण किया और वाद मे वे अपने शिष्यो को उसे सोप गये। महावीर के निर्वाण के वाद लगभग ८–९ सौ वर्षों तक यह साहित्य आचार्यो के कठो मे ही निवास करता रहा। लगभग ईसा की ३–४ शताब्दी मे इसे लिपिवद्ध किया गया। यद्यपि उसका स्वरूप और पहले निश्चित हो चुका था।

'इस साहित्य के सम्बन्ध मे भी दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मे मतभेद है किन्तु जहा तक महावीर के सिद्धान्तो का प्रश्न है, उसमे कोई विशेष अन्तर नही है। मात्र दृष्टियो की भिन्नता है। जैसाकि मैंने आपको पहले कई प्रसगो के साथ स्पष्ट किया है।'

००

२१. तत्वज्ञान के व्याख्याता

'भद्र ! आज तक आपने भगवान महावीर की पूर्वपरम्परा, देशकाल की स्थिति, उनके जन्म, शैशव एवं युवावस्था की कथा, विवाह-प्रसग, अभिनिष्क्रमण, बारह वर्ष की साधना, तीस वर्षों का जनकल्याण के लिए समर्पित जीवन एव उनके शिष्य-परम्परा की कथा जिज्ञासापूर्वक सुनी । चित्रागद, श्रीकण्ठ, समुद्रदत्त एव सुश्री कनकप्रभा आदि कलाकार तो मानो महावीर की कथा को अपने मानस मे ही अकित करते रहे हैं । उससे भी अनुपम होगा महावीर का वह जीवन, जिसे वे कलाकार गुहा की इन चित्तभित्तियो मे अकित करेंगे । मेरी अभिलाषा है, इन कलाकारो की कृतियो मे प्राणो का भी सचार हो । यह तभी सभव है, जब वे महावीर के जीवन को उसकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के साथ चित्रो मे उतारें । और फिर मैं भी तो उस महामानव की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियो से गुजर कर अपना जीवन सार्थक करना चाहता हू । अत. महावीर की समस्त देशना की कथा उनके विभिन्न गुणो के माध्यम कहूगा । आप सब उसके साक्षी हो ।'

इस प्राथमिक के साथ आचार्य कश्यप के नेत्र बन्द हो गये । अन्तरात्मा के नयन खुल गये । वे उन सब उपदेशो को संजोने लगे, जिन्हे भगवान महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए देश के विभिन्न भूभागो मे उद्घोषित किया था । शिल्पीसघ कथा प्रारम्भ होने के समय जितना उत्सुक और जिज्ञासु था, महावीर की कथा के इस उपसहार के समय वह उतना ही श्रावक बन चुका था । कलाकारो की आत्माए स्वानुभूति की ओर अग्रसित होने के लिए उन मार्गों को जान लेना चाहती थी, जिनसे होकर महावीर गुजरे थे । आचार्य-कश्यप की देशना प्रारम्भ हो गयी—

'भगवान महावीर ने जगत् के पदार्थों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था । उन्होने अपनी अनुभूति को सात तत्वो मे विभाजित किया है—जीव, अजीव,

आस्रव, वध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष । इनके स्वरूप का निरूपण ही श्रमण-धर्म की व्याख्या है, जो महावीर अपनी देशनाओ मे विभिन्न प्रसगो मे करते रहे हैं। इनके अस्तित्व को इस प्रकार समझा जा सकता है—

जीवतत्व

महावीर ने जीव का मुख्य लक्षण उपयोग कहा है । उपयोग का अर्थ है–दर्शन और ज्ञान । प्रत्येक जीव मे अपनी सत्ता के अनुभवन की शक्ति का नाम दर्शन है और वाह्य पदार्थो को जानने-समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान । संसार के जिन पदार्थों मे ये दर्शन और ज्ञान शक्तिया उपलब्ध हैं वे जीव कहलाते हैं । उनकी प्रमुख पहिचान चेतनता है । चैतन्यता की अनुभूति पाच इन्द्रियो, मन, वचन व काय रूप तीन वलो तथा श्वासोच्छ्वास आदि दस प्राणो की हीनाधिक सत्ता से होती है । इसके अतिरिक्त जीव के और भी अनेक गुण हैं । उसमे कर्तृत्व-शक्ति एव उपभोग का सामर्थ्य है । स्वरूप की दृष्टि से वह अमूर्तक है तथा जिम शरीर मे वह रहता है उसके समस्त अग-प्रत्यगो मे व्याप्त रहता है ।

जीव को ही आत्मा कहा गया है । आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है । ससार या मोक्ष अवस्था मे भी जीव के अस्तित्व का विनाश नही होता । इस प्रकार के जीवो की सख्या अनन्त है । उनकी चेतनता एव दर्शन व ज्ञान गुणो की हीनाधिकता के कारण ससारी जीवो के दो भेद है—साधारण और प्रत्येक । साधारण जीव वे हैं, जो वृक्षादि मे रहते हैं तथा जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि की क्रियाए एक साथ सामान्य ढग से होती हैं । इनके इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं । निगादिया जीवो की आयु अत्यल्प होती है । यहा से मर कर ये जीव क्रमश ऊपर की योनियो मे आते रहते है । इन जीवो की सख्या अनन्त है । अत कितनी ही आत्माए मुक्त होती जाय, समार मे जीवो की सख्या कम नही पडेगी ।

प्रत्येक जीव इन्द्रियभेद से पाँच प्रकार के होते हैं । मात्र स्पर्श इन्द्रिय जिनके होती है वे एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं । इनके पाच भेद हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । जिनके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रिया होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं । यथालट आदि । त्रीन्द्रिय

जीव वे होते हैं, जिनके स्पर्श, रसना और घ्राण इन्द्रिया होती हैं। यथा-चीटी आदि। इनमे नेत्र इन्द्रिय और जिनके होती है वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे—भ्रमर इत्यादि। पशु, पक्षी एव मनुष्य श्रोत्र इन्द्रिय अधिक होने से पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। इनके दो भेद हैं—मनयुक्त पचेन्द्रिय जीव संज्ञी एव मनरहित असज्ञी कहे जाते हैं। ये समस्त प्रकार के ससारी जीव चार गतियो मे भ्रमण करते हैं—मनुष्यगति, पशु-पक्षी आदि इतर प्राणियो की तिर्यञ्चगति, देवगति तथा नरकगति मे। प्रत्येक जीव अपने कर्मों के अनुसार इन गतियो मे आता-जाता रहता है।

भगवान महावीर ने इन सब जीवो का अध्ययन किसी प्रयोगशाला मे नहीं किया था। अपितु उन्होने अपनी आत्मा के स्पन्दन को इतना विस्तृत किया था कि वे इन सबके स्वरूप व कार्यो को समझ सके। निगोद के साधारण जीवो के स्वरूप की खोज भगवान महावीर की अपनी है। इसी आधार पर वे मुक्ति के स्वरूप की सही व्याख्या प्रस्तुत कर सके हैं।

'आचार्यप्रवर! यद्यपि आपकी शैली व्याख्यात्मक है, किन्तु महावीर की पकड बहुत सूक्ष्म है। दार्शनिक विषयो का विवेचन आप कर रहे हैं। अत. कृपया हमारी जिज्ञासाओ को समाधित करते हुए ही आगे बढेंगे। ऊपर आपने निगोद, ससार एव मोक्ष के जीवो की बात कही। अनन्त सख्या का भी उल्लेख किया। कृपया उनमे निहित अर्थ को भी उजागर करें।'

'भद्र चित्रागद! महावीर का दर्शन जितना सूक्ष्म है, आप सबकी जिज्ञासाए उतनी ही तीव्र। अत सत्य तक हम अवश्य पहुचेंगे। निगोद मे अनन्त जीवराशि की धारणा महावीर की अपनी है। उन्होने जीवो का जो वर्णन किया है उसके सामान्यत तीन भाग किये जा सकते हैं—निगोद के जीव, ससार के जीव एव मोक्ष के जीव। निगोद वह अवस्था है, जहा जीव की चेतना पूर्णतया मूर्च्छित होती है, किन्तु अचेतन नही। संसारी जीव अर्द्ध-मूर्च्छित होते हैं तथा मोक्ष है—परन अमूर्च्छित आत्माओ का लोक। पूर्ण जागृति की अवस्था। अत निगोद और मोक्ष इन दो अतियो को जोडने वाला संसार है। पुरुषार्थ करने का क्षेत्र।

महावीर ने जो जीवो की अनन्तता की बात की है, वह भी अद्भुत है।

'निगोद मे भी अनन्त जीव तथा मोक्ष मे भी अनन्त जीव। एव ससार मे भी अनन्त उनकी पर्याये। महावीर का यह अपना गणित है। अनन्त का अर्थ है—सख्या का विसर्जन एव उसकी निरर्थकता। अत अनन्त एक ऐसी राशि है, जिसमे से कितना भी निकलो न कोई कमी पडती है और कितना ही जोडो न कोई वृद्धि होती है। इसीलिए कितनी ही आत्माएँ मुक्त होती रहे संसार मे उनकी कमी नही होगी। निगोद से आती रहेगी। और मोक्ष मे उनकी कभी भीड नही होगी। अत जीवो के अनन्त होने की यही सार्थकता है। महावीर जव जगत् को अनादि और अनन्त कहते हैं तो उसका भी यही अर्थ है कि यह ससार न कोई पैदा कर सकता है और न ही इसका कही अन्त होगा। परिवर्तन चाहे जो होते रहे।'

अजीवतत्व

दर्शन और ज्ञान गुण से रहित पदार्थ अचेतन हैं, जिन्हे अजीवतत्व कहा जाता है। महावीर ने इसको एक महत्वपूर्ण नाम दिया है—'पुद्गल'। पुद्गल का अर्थ है—ऐसे परमाणु जिनका पूरण (सघात) और गलन (भेद) निरन्तर होता रहता हो। ससार के समस्त पदार्थों की यही दशा है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि से लेकर पशु-पक्षी व मनुष्यो के शरीर सव पुद्गल के ही रूप हैं। वास्तव मे यह अजीव द्रव्य जीवतत्व का परम सहयोगी है। इसके अस्तित्व से ही जीव की चेतना क्रमश विकसित हो पाती है। ससार मे दिखायी पडने वाला मात्र पुद्गल पदार्थ ही है। और मव उसकी अपेक्षा से अरूपी हैं।

जीव और पुद्गल के अतिरिक्त भगवान महावीर ने अन्य चार द्रव्यो का भी परिचय दिया है। वे हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। धर्मद्रव्य समस्त लोक मे व्याप्त है। इसीके कारण जीवो और पुद्गलो का गमनागमन सभव होता है। अधर्मद्रव्य के अस्तित्व से संसार के पदार्थ स्थिर हो पाते हैं। चौथा अजीवद्रव्य आकाश है, जो समस्त द्रव्यो को ठहरने के लिए अवकाश प्रदान करता है। आकाश के जिम भाग मे द्रव्यो की सत्ता पायी जाती है, उसे लोकाकाश और जहा अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। पाचवाँ द्रव्य काल है, जिसके कारण ससार की क्रियाओ की अवधि आदि का ज्ञान किया जाता है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने इस विश्व के मूल तत्वो–जीव और अजीव, की सूक्ष्मता से व्याख्या की है। इनके भेद-प्रभेदो मे जाने का एक ही कारण दिखायी पडता है कि व्यक्ति अपने ज्ञान को इतना विकसित करले कि वह चेतनता और अचेतनता को पहिचानने लगे। अचेतनता की जानकारी उसकी जितनी बढेगी वह उतनी ही तीव्रगति से चेतनता की उपलब्धि का प्रयत्न करेगा। यही उसका आत्मोपलब्धि का मार्ग होगा। वह जान पायेगा कि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध किन कारणो से है ? कैसे उसका विच्छेद सम्भव है ?

द्रव्य का स्वरूप

महावीर ने जीवादि छह द्रव्यो के निरूपण के साथ यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि ससार के पदार्थों मे जो विचित्रता दिखायी पडती है, वह किसी की कृपा न होकर स्वय द्रव्य के स्वरूप के कारण है। द्रव्य मे गुण और पर्याय ये दो विशेषताए होती हैं। प्रत्येक द्रव्य का गुण (स्वभाव) कभी नही बदलता, किन्तु उसकी पर्याय मे निरन्तर नवीनता और क्षीणता होती रहती है। अत इस प्रकार द्रव्य मे निरन्तर तीन क्रियायें दिखायी पडती हैं—उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यता (स्थिरता)। इन्ही के कारण ससार के पदार्थों मे गतिशीलता होती रहती है। इसके लिए किसी नियन्ता की आवश्यकता नही होती।

द्रव्यो के स्वरूप को अन्य भारतीय विचारको ने पूर्णता से नही पकडा। बुद्ध की दृष्टि उसकी व्ययक्रिया पर रही, अत उन्होने ससार को क्षणिक माना और वेदान्त आदि दर्शन पदार्थ की स्थिरता को देखते रहे अत उन्होने ससार को कूटस्थ नित्य मान लिया। महावीर ने द्रव्य को पूर्णता से जाना और कहा कि ये तीनो क्रियाए द्रव्य मे निरन्तर होती रहती हैं। भगवान महावीर तत्वो की सूक्ष्मता का अध्ययन इसलिए भी प्रस्तुत कर सके क्योकि उनकी अहिंसा की परिधि बहुत विस्तृत थी। उन्होंने अपनी आत्मा, निजत्व का विस्तार जीवन के निम्न से निम्न एव सर्वोच्च तलो तक कर लिया था। इस कारण वे परम तत्वज्ञानी एव उसके व्याख्याता हो सके।

२२. कुशल मनोवैज्ञानिक

'महावीर की दृष्टि विश्व के सात तत्वो का निरूपण करते समय जीव-अजीव के सम्वन्धो पर अधिक रही है। क्योकि चिन्तन का केन्द्र-विन्दु यही है। जीव एवं अजीव तत्वो के निरूपण द्वारा महावीर ने सृष्टि का सम्यक् विश्लेपण किया था। तथा आश्रव और वन्ध तत्वो की समीक्षा द्वारा उन्होने कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या की है। उनका यह अध्ययन जीव-अजीव के सम्वन्धो द्वारा प्राणियो के मानस का विश्लेषण था। एक कुशल मनोवैज्ञानिक की तरह महावीर ने प्राणियो के मानसिक स्पन्दन और उसके वाह्य प्रभाव की विस्तृत मीमांसा की है। इसे थोडा विस्तार से समझना होगा।'

'कर्मों का जीव तक पहुचने का साधन क्या है तथा जीव के समक्ष पहुचने पर कर्म उससे अपना सम्वन्ध कैसे स्थापित करते हैं, इन प्रश्नो का समाधान महावीर ने समीचीन ढग से किया है। जीव और कर्मों का वन्ध तभी सम्भव है जव जीव मे कर्म पुद्गलो का आगमन हो। अत कर्मों के आने के द्वार को महावीर ने 'आश्रव' कहा है। यह द्वार जीव की ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। जीव मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ वोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं वह सव कर्मों के आने मे कारण है। मन, वचन, काय की इस क्रिया को ही महावीर ने 'योग' कहा है। अत. मन और पाचो इन्द्रिया कर्मों के आगमन मे प्रमुख कारण हैं। इन छहो की क्रियाओ द्वारा आत्मा का पुद्गल-परमाणुओ से सम्पर्क होता है, इसलिए इस सम्पर्क को 'कर्म' कहा गया है।'

महावीर ने जीव के साथ कर्मों के सम्पर्क को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि मन और इन्द्रियो से कर्म-परमाणु आत्मा के समक्ष दो तरह से आते हैं और उसमे मिल जाते हैं। प्रथम काय आदि योगो की साधारण क्रियाओ के द्वारा और दूसरे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार तीव्र मनोविकार

रूप कषायो के वेग से प्रेरित होकर। प्रथम प्रकार के कर्माश्रव को मार्गगामी कहा गया है, क्योकि उसके द्वारा आत्मा और कर्मप्रदेशो का कोई स्थायी बन्ध उत्पन्न नही होता। कर्मपरमाणु आते हैं और चले जाते हैं। जैसे कि किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर पडी हुई धूल शीघ्र झड जाती है, देर तक वस्त्र से चिपटी नही रहती। इस प्रकार का कर्माश्रव समस्त ससारी जीवो के निरन्तर हुआ करता है। क्योकि उनके मानसिक, वाचिक एव शारीरिक क्रियाए होती ही रहती है। किन्तु इनका विशेष प्रभाव आत्मा पर नही पडता।

परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायो से युक्त होती हैं तब आत्मप्रदेशो मे एक ऐसी परपदार्थ-ग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उसके सम्पर्क मे आने वाले कर्मपरमाणु उससे शीघ्र प्रथक् नही होते। आत्मा की इस कषाय-अवस्था मे उत्पन्न हुआ कर्माश्रव अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिये बिना आत्मा से पृथक् नही होता। अत कषाययुक्त कर्मों के कारण ही जीव का इस ससार मे बन्धन है। भगवान महावीर ने इन्ही कर्मों की शृ खला को रोकने का उपदेश दिया है।

महावीर ने कहा है कि जीव और कर्म सम्बन्ध अनादि है। जीव की सचेतनता मे अचेतनता के जो अश होते हैं वही नये कर्मों का आह्वान करते रहते हैं, जिन्हे रागद्वेष कहा गया है। रागद्वेष और कर्म एक दूसरे के जन्म-दाता हैं। इसी क्रम का नाम ससार-चक्र है। इनका सम्बन्ध अनादि होने से मुक्ति का मार्ग खुला रहता है। क्योकि एक बार कर्मों से सर्वथा विमुक्त होने पर आत्मा पुन कर्मबन्धन नही करती। क्योकि उसकी अचेतनता पूर्णरूप से विसर्जित हो जाती है। इसीलिए महावीर ने पूर्ण सचेतन, सजग होने को कहा है। मूर्च्छा और अचेतनता को तोडने को।

महावीर ने विश्व के चौथे तत्व 'बन्ध' का जिस प्रकार निरूपण किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म कितने प्रकार के हैं, किन क्रियाओ से कौन कर्म बधते हैं, यह बन्धन कब तक रहता है, कैसे फल देता है, किस प्रकार घटता-बढता है तथा किन प्रयत्नो द्वारा सर्वथा नष्ट होता है इत्यादि। मूलत कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इनके सबके अलग-अलग कार्य हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसका पूर्ण विकास नही होने पाता। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। उसे स्वानुभूति नही होने देता। मोहनीय कर्म जीव की रुचि व चरित्र मे अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। अन्तराय कर्म जीव को सुखानुभूति नही होने देता। वेदनीय कर्म के प्रभाव से आत्मा सुख-दुख का अनुभव करती है। आयु कर्म जीव की देव, नरक, मनुष्य एवं तिर्यञ्च गतियो का निर्धारण करता है। गोत्रकर्म उसे नीच या उच्च गोत्र मे ले जाता है। तथा नामकर्म जीव का शारीरिक निर्माण करता है। किसी को सुन्दर व कुरूप आदि बनाना इसी के हाथ मे है। इन सभी कर्मों का बन्ध इनके अनुरूप कषायात्मक क्रियाए करने से होता है। मन वचन एव काय का योग तथा रागद्वेष की भावनाए जिस प्रकार की होगी कर्मों का स्वभाव एव उनके फल देने की शक्ति भी वैसी ही होगी। अत जिस प्रकार जीव स्वय कर्म-बन्धन करता है, उसी प्रकार वह अपनी क्रियाओ द्वारा उनका निरोध भी कर सकता है। महावीर ने कर्म-विमुक्ति का भी विशद विवेचन किया है।

'गुरुदेव, कर्म-सिद्धान्त का विवेचन अति सुन्दर है। मौलिक भी। जिज्ञासा यह है कि इसके इतने विस्तृत विवेचन की भगवान महावीर को आवश्यकता क्या थी? क्या था उनका प्रतिपाद्य?'

'सुश्री कनकप्रभा! इसी विषय पर मैं क्रमश. आ रहा था। तुम जानती हो कि महावीर के समय तक यह धारणा पुष्ट हो चुकी थी कि कर्मो को करने वाला जीव है एवं तदनुसार उसे फल देने वाला कोई दूसरा है, जिसे ईश्वर कहा गया है। महावीर के अनुभव मे यह बात कभी नही उतर पायी कि कर्म कोई और करे, फल कोई दूसरा दे। अत उन्होंने इस स्थिति का गहराई से अध्ययन किया। चिंतन-मनन भी। जिसकी दो निष्पत्तियां हुई कि इस विश्व की विचित्रता व अस्तित्व तत्त्वो का मात्र परिवर्तन है, किसी अदृष्ट शक्ति की सृष्टि आदि नही। तथा प्रत्येक आत्मा जैसे अपने अस्तित्व के लिए स्वतन्त्र है उसी प्रकार अपने बन्ध और विमुक्ति के लिए भी। अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ को जागृत करने के लिए महावीर ने कर्म-

सिद्धान्त का यह विश्लेषण किया था ।'

एक बात और समझ लें। महावीर के युग मे जितनी विकृतियाँ थी उतनी शायद कभी नही रही। पाखण्डी एव क्रूर व्यक्ति सासारिक दृष्टि से सुखी देखे जाते थे तथा धार्मिक एवँ अहिंसा मे विश्वास करने वालो को अनेक कष्टो का सामना करना पड रहा था। यह सब देखकर लोगो की यह धारणा बन गई थी कि मनुष्य कर्म इस जन्म मे करता है एवं उसके फल उसे अगले जन्म मे मिलते हैं। अथवा पूर्वजन्मो के फल व्यक्ति इस जन्म मे भोग रहा है। इस लम्बी कारण-कार्य की शृखला का महावीर ने जब निकट से परीक्षण किया तो उन्हे इसका कोई आधार दिखाई नही पडा। बल्कि इस भ्रम के दर्शन हुए कि जैसे कुछ लोगो ने अपने सुख-दु ख को ईश्वर की कृपा पर निर्भर मान लिया है, उसी प्रकार कुछ ने पूर्व या अगले जन्मो के कारण-कार्यों को। यह दोनो तरह से अपने उत्तरदायित्वो से पलायन है। निष्क्रियता का आमन्त्रण है।

'महावीर ने कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा दो समाधान दिए कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई ज्ञात या अज्ञात कारण है। अत हम कर्म कर रहे हैं उसका तत्काल फल भी भोग रहे हैं। इसका आगे हिसाब-किताब रखने वाला कोई नियन्ता नही है। दूसरी बात यह है कि जिसे हम सुख व दु ख मान रहे हैं वे दोनो ही अपेक्षाभेद से बन्धन के कारण है। अत इन दोनो से छुटकारा पाने का प्रयत्न ही आनन्द मे ले जा सकता है। और इस मुक्ति के लिए कई जन्मो की प्रतीक्षा अथवा किसी की अनुकपा की अपेक्षा नही है। जिस क्षण आत्मा के स्वरूप का पूर्णतया ज्ञान हो जाय उसी समय समस्त कारण-कार्यों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार का विश्लेषण भगवान महावीर की अपूर्व देन थी।'

००

२३. सजग पुरुषार्थी

'भगवान महावीर अपनी आत्मा के प्रति इतने जागृत हुए कि उन्हे मुक्ति के लिए किसी के प्रति समर्पण करने की आवश्यकता नही पडी । वास्तव मे उन्होने इस द्वन्द्व को ही मिटा दिया कि कोई एक समर्पण करने वाली आत्मा है और दूसरी अनुकपा करने वाली । आत्मा के दो स्वभाव नही हो सकते । अत उन्होने सजग एव पुरुषार्थी आत्मा को ही परमात्मा स्वीकार किया । आत्मा एव परमात्मा के एकीकरण के कारण ही तत्कालीन लोगो को लगा कि इन्होने वीच के ईश्वर का लोप कर दिया । अत महावीर को अनीश्वर-वादी कहा जाने लगा । किंतु गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि ईश्वरत्व को पहिचानने वाला शायद ही महावीर के सदृश कोई व्यक्ति हुआ हो । परमात्मा की सर्वव्यापकता का उद्घोप जितना जिन्होने किया है, दूसरे ने नही । प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा वनने की सभावना की खोज महावीर की अपनी है । विशेपता यह कि इस प्रक्रिया मे किसी मध्यस्थ की भी आवश्यकता नही है । मात्र स्वय जागना होता है ।'

तत्कालीन ईश्वर-सम्बन्धी धारणा का महावीर ने विरोध नही किया । उन्होने ऐसी विचारधारा को विरोध के योग्य भी नही समझा । उन्होने तो मात्र प्रकृति के नियमो की, जगत् के पदार्थों की ही व्याख्या की । उनके स्वरूपो का उद्घाटन किया है । अव इससे यदि कोई ईश्वर तिरोहित हो जाय, उसकी अर्थवत्ता जाती रहे तो महावीर उसे महत्त्व देने योग्य नही समझते ।

महावीर के समय मे प्राकृतिक नियमो के विश्लेपण मे दो अव्यवस्थाएँ पैदा हो गयी थी । एक विचारधारा ने नियमो के ऊपर एक नियन्ता को मान लिया था । नियमो का सचलन उसकी कृपा पर निर्भर हो गया था । आग का सामान्य लक्षण जलाना है, किंतु नियन्ता यदि चाहे तो वह आग किसी

को नही भी जला सकती। इस सबध मे सैकडो कथाएँ है। भक्त प्रह्लाद की कथा आप जानते है। उसने अपनी भक्ति से प्रभु को प्रसन्न किया तो आग ने उसे नही जलाया। किन्तु उसकी बुआ ने प्रभु का नाम तक नही लिया तो आग ने उसे जला दिया। अत यह एक सिद्धात बन गया कि पदार्थों की शक्ति और स्वरूप को जानने की बजाय उनके नियन्ता की कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इस कृपा को प्राप्त कराने मे बीच मे कई लोग आ गए। और इस तरह व्यक्ति और ईश्वर के बीच गहरी खाई पड गई। इतनी गहरी कि वे एक-दूसरे को पहिचान भी न सकते थे। सभी कार्य मध्यस्थो के द्वारा होने लगे।

उस समय कुछ लोग ऐसे भी थे जिनकी बुद्धि मे यह नियन्ता की अनुकपा की बात नही बैठी। किंतु जगत् की विचित्रता का समाधान तो करना ही था। अत उन्होने यह मान लिया कि जो कुछ भी अदृश्य है, परोक्ष है, उसकी कोई सत्ता नही है। चाहे वह ईश्वर हो, स्वर्ग हो या नरक। अत उन्होने प्रकृति के नियमो को ही मानना छोड दिया। वे यह कहने मे असमर्थ हो गए कि आग जला भी सकती है या नही। विषय-वासना का कोई प्रतिफल भी होगा या नही। इस कारण इन लोगो ने प्रत्यक्ष जीवन को सभी असंगतियो का केन्द्र बना दिया।

महावीर इन दोनो व्यवस्थाओ को देख रहे थे। नियन्ता की स्वीकृति को और नियमो की अस्वीकृति को। उन्होने अनुभव किया कि एक नियमो को तोडकर अव्यवस्था कर रहा है तो दूसरा नियन्ता के हस्तक्षेप द्वारा। ये दोनो मान्यताएँ ही वैज्ञानिक नही हैं। अत महावीर ने एक तीसरा चितन दिया कि नियमो की अखण्डता को स्वीकारो, उनके अपरिवर्तन को। यह जान जाओ कि आग का स्वभाव जलाना है, हाथ का स्वभाव जलना। हाथ जो आग मे डालता है वह कर्म करता है तथा हाथ का जल जाना उसके कर्म का फल है। इतना प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति को यदि हो जाय तो यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर है कि वह आग मे हाथ डाले या न डाले। जब तक किंचित् भी अज्ञान रहेगा, सशय रहेगा वह हाथ डालता रहेगा। किंतु इस नियम का पूर्ण ज्ञान होते ही असम्भव हो जाएगा फिर आग मे हाथ डालना। इस

प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव जानकर यहा के नियमो से अवगत हुआ जा सकता है। तव ससार की विचित्रता, सृष्टि एव आत्मकल्याण आदि के लिए परापेक्षी नही होना पडेगा। स्वय पुरुपार्थ करो, जागो और आनन्द की अनुभूति करो, यही महावीर का संदेश प्राणिमात्र के लिए रहा है।

महावीर की तत्वज्ञान सम्वन्धी इस प्रकार की व्याख्या ने ईश्वर के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है। ससारी जीवो के छोटे-छोटे कार्यो के लिए उसे उत्तरदायी मानने वालो ने ईश्वर को वीतरागता, सर्वज्ञता का अविकारी नही रहने दिया था। एक का वह कल्याण करता था तो दूसरे का सहार। इस प्रकार की असमानता को कुछ लोगो ने ईश्वर के साथ जोड दिया था। महावीर ने कहा—'ईश्वर उस शक्ति का नाम है, जो राग-द्वेष, त्याग-भोग, घृणा-प्रेम इन सव द्वन्द्वो से ऊपर उठ चुका है। उस शक्ति ने यह भलीभाँति जान लिया है कि संसार के प्रति करुणा पुन ससार-चक्र मे फँसने का कारण वनती है। अत परमात्मा तो अपने मार्ग पर मात्र चलता है, लोगो को उसमें कल्याण दिखे तो वे उसका अनुकरण कर सकते हैं। महावीर यहा भी सभी आत्माओ की स्वतन्त्र-अभिव्यक्ति की वात करते है। अत. महावीर द्वारा कर्म-सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन अनेक प्रकार की आशिक धारणाओ से मुक्ति दिलाता है तथा अपने उत्तरदायित्वो के प्रति सचेत करता हुआ अपनी शक्ति को पहिचानने की प्रेरणा देता है।

००

२४. विश्रुत प्रज्ञा के धनी

रात्रि मे पुन जब शिल्पीसघ एकत्र हुआ तब आचार्य कश्यप ने महावीर की देशना का सूत्र पकडते हुए कहना प्रारम्भ किया—

'भद्र ! महावीर ने कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा जीव और अचेतन के सम्बन्धो पर जितना प्रकाश डाला है, उतना ही 'सवर' और 'निर्जरा' तत्वो के विवेचन द्वारा जड-चेतन के भिन्न होने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। सवर नाम है उस तत्व का जो कर्मों के आस्रव को रोकता है तथा निर्जरा उसे कहा गया है जो आत्मा से सलग्न कर्मों को धीरे-धीरे विलग करता है। तब मुक्ति अवस्था प्रगट होती है।

मोक्षमार्ग के सम्बन्ध मे महावीर ने अद्‌भुत समाधान प्रस्तुत किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीन सिद्धान्त मोक्ष प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं। महावीर का सम्पूर्ण जीवन इन्ही तीनो की अभिव्यक्ति है। उनका बचपन सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने का साधन रहा है। उनका साधना-काल सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मे गुजरा है तथा दर्शन और ज्ञान की जो उपलब्धि थी तीर्थङ्कर जीवन मे वही चारित्र बनकर प्रकट हुई है। इन तीनो मे से प्रथम दो का तत्वमीमासा और ज्ञानमीमासा से सम्बन्ध है। तथा तीसरे का आचार-सहिता से। प्रत्येक के सम्बन्ध मे भगवान महावीर ने विस्तार से प्रकाश डाला था। आप उन्हे इस प्रकार समझे—

सम्यग्दर्शन का अर्थ है शुद्ध दृष्टि। ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा केवली द्वारा प्रणीत तत्वो के स्वरूप मे सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। जगत् के पदार्थों के अस्तित्व एव उनके वास्तविक स्वरूप की जो आत्मज्ञान को उपलब्ध तीर्थङ्करो ने व्याख्या की है, उस व्याख्या के प्रति निश्चित होना सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन का मूल है आत्मा एव शरीर की भिन्नता को अनुभव करना। इस प्रकार का यह श्रद्धान किन्ही जीवो को अकस्मात्, किन्ही जीवो

को पूर्वजन्म के स्मरण से तथा किन्ही जीवो को धर्मोपदेश के श्रवण अथवा धर्मोत्सव आदि के दर्शन मे उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन मे तब दृढता आती है, जब पूर्वोक्त तत्वज्ञान के निरूपण मे शंका, आकाक्षा, घृणा आदि भाव मन मे न आये तथा मिथ्या देव, शास्त्र और गुरुओ के प्रति आस्था जागृत न हो। इन दोषो से मुक्त होकर धर्म की निन्दा से रक्षा करना, धर्मीजनो को सत्प्रवृत्ति मे दृढ करना, उनसे सद्भावना-पूर्ण व्यवहार करना और धर्म के माहात्म्य को प्रगट करने का प्रयत्न करना—आदि कार्य सम्यग्दर्शन को पूर्णता प्रदान करते हैं। साथ ही मिथ्यात्व का इसमे विसर्जन हो जाता है। इस प्रकार मिथ्या दृष्टियो को छोडकर सम्यक्त्व के ग्रहण का अर्थ है—अधार्मिकता मे धार्मिकता मे प्रवेश। असभ्यता के क्षेत्र से निकलकर सभ्यता और सामाजिकता के क्षेत्र मे विचरण। जब तक यह पृष्ठभूमि तैयार न होगी साधक मुक्तिमार्ग की सही दिशा न पा सकेगा। इन कारणो से ही महावीर ने सम्यग्दर्शन के विवेचन मे विशेष जोर दिया है।

सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्षमार्ग पर बढने के लिए दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दृष्टि द्वारा जिन जीवादि तत्वो मे श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मे सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र अन्तरग है, जो आत्मा की सत्ता का भान कराता है, जबकि ज्ञान का क्षेत्र बहिरग है जिससे बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न होता है। अत दर्शन की उपलब्धि द्वारा आत्म-चैतन्य की वह अवस्था हो जाती है, जिसमे बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो सके।

भगवान महावीर ज्ञान की इन सभी अवस्थाओ से स्वय गुजरे है। अत उन्होंने ज्ञान के भेद-प्रभेदो का सूक्ष्म वर्णन किया है। इसका एक कारण यह भी है कि वे नही चाहते थे कि कोई आत्मा किसी अज्ञान को पकडकर ही अपने को ज्ञानी मानती रहे। अत प्रत्येक ज्ञान की सीमा एवं उसके विस्तार की बात महावीर ने की।

सम्यग्दर्शन को उपलब्ध आत्मा से जो ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं भगवान महावीर ने उन्हें पाच नाम दिये है—मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल-

ज्ञान। इन सब के स्वरूप एव क्षेत्र आदि के सम्बन्ध मे भी उन्होने प्रकाश डाला है। ज्ञेयपदार्थ और इन्द्रिय-विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तु बोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान का पूर्ण बोध अनेक अवस्थाओ को पार करने के बाद होता है। यथा जब पदार्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने पर 'कुछ हैं' ऐसी प्रतीती होती है तो उसे अवगृह मतिज्ञान कहते हैं। उस अस्पष्ट वस्तुबोध को विशेषरूप से जानने की इच्छा होना 'ईहा' है। फलस्वरूप वस्तु जिस रूप मे स्पष्ट होती है वह 'आवाय' है। तथा कालान्तर मे जब वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है एव स्मरण से उसकी पुष्टि होती है तो वह धारणा मतिज्ञान है। इसी प्रकार ज्ञेयपदार्थों के भी अनेक भेद हैं, जिनके कारण महावीर ने मतिज्ञान को ३३६ प्रकार का बतलाया है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का इतना सूक्ष्म अध्ययन करने वाले महावीर की ज्ञान-चेतना पर्याप्त विकसित रही होगी।

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। धुए को देखकर अग्नि के अस्तित्व की, हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर किसी मनुष्य की, शास्त्र को सुनकर विभिन्न तत्वो की जानकारी श्रुतज्ञान का ही विषय है। महावीर ने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनो को परोक्ष ज्ञान कहा है। क्योकि वे आत्मा के द्वारा न होकर मन और इन्द्रियो के माध्यम से उत्पन्न होते है। महावीर की यह घोषणा बडी अद्भुत थी। जिसे सारी दुनिया प्रत्यक्ष कह रही थी, महावीर ने उसे परोक्ष ज्ञान कहा। उसका कारण यह था कि महावीर आत्मा और इन्द्रियो को भिन्न मानते थे। आत्मा चेतन और इन्द्रिय जड है। अत इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान भी परोक्ष ही होगा, प्रत्यक्ष नही। इस घोषणा का यह भी अर्थ था कि व्यक्ति और आगे की यात्रा करे। अपने ज्ञान को, आत्मा को और अधिक विशुद्ध व निर्मल बनाये।

महावीर ने आत्मा को ऐसी शक्ति माना है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियो के अगोचर, अतिसूक्ष्म एव दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है। क्योकि यह देश की मर्यादा को लिए हुए होता है। विशेष गुण व ऋद्धि आदि के प्रभाव से यह ज्ञान उपलब्ध होता है।

ज्ञान का अगला चरण मन पर्यय ज्ञान है। इसकी उपलब्धि से दूसरे के ज्ञान मे चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इस ज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति मन पर्यय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कभी नही छूटता। ज्ञान के इस प्रकार जो भेद किये गये हैं, उनकी यह सार्थकता है कि इससे भगवान महावीर के मानस की विशुद्धता का पता चलता है। दूसरे, साधक हर क्षण सजग भी बना रहता है कि उसे परम ज्ञान की ही प्राप्ति करनी है। इन छोटे-छोटे ज्ञानो के चमत्कारो मे ही उलझकर नही रह जाना है।

ज्ञान की परम शुद्ध अवस्था को महावीर ने केवलज्ञान कहा है। यह उनकी अनुभूति है कि वे साधना के बाद ऐसी अवस्था मे पहुच गये थे, जहा मात्र ज्ञान ही शेष था और कुछ नही। अत आत्मा के ज्ञान उपयोग का सर्वोच्च विकास केवलज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा विश्व के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यो और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायो का ज्ञान युगपत् होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकाग्र साधना एव अनासक्ति और अहिंसक वृत्ति का पूर्णतया विकास करना पडता है। अत यह ज्ञान साधारण प्राणियो के नही होता।

ज्ञान की विस्तृत मीमासा के कारण महावीर एक महत्वपूर्ण कार्य यह कर सके कि श्रोताओ के अन्तस् को पहिचान कर उनके ज्ञान के अनुरूप ही वे देशना देते थे। महावीर इस क्षेत्र मे पहले व्यक्ति थे जिन्होने केवल अपने बोलने की चिन्ता नही की, अपितु यह भी विचार किया कि सामने वाला इसे किस प्रकार ग्रहण कर पायेगा। इसके लिए उन्होंने श्रोताओ व श्रावको की भाषा मे अपनी बात कही। किसी वस्तु के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी कर लेना मात्र पर्याप्त नही है, अपितु उस वस्तु की व्याख्या किन दृष्टिकोणो से एवं किस प्रकार की भाषा द्वारा की जा सकती है, इसका प्रयत्न भी वक्ता को करना चाहिए। महावीर ने अपनी साधना द्वारा यही किया भी। अत वे न केवल विश्रुत प्रज्ञा के धनी थे, बल्कि सत्य की गहरायी को प्रकट करने वाले कुशल शोधक भी।

○○

२५. सत्य के तलस्पर्शी शोधक

'भद्र ! भगवान महावीर की विश्व को जो महत्वपूर्ण देन है उसके सम्बन्ध में प्रकाश डाल कर आज की बात समाप्त करू गा । महावीर ने ज्ञान के भेद-प्रभेदो का जो प्रतिपादन किया, उसके द्वारा आत्मा के क्रमिक विकास का पता चलता है । तथा इस वस्तुस्थिति का भी भान होता है कि हम ज्ञान की कितनी छोटी-सी किरण को पकडे बैठे हैं, जबकि सत्य की जानकारी सूर्य-सदृश प्रकाश वाले ज्ञान से हो पाती है ।

महावीर ने इस क्षेत्र मे एक अद्भुत कार्य और किया । उनके युग मे चिन्तन की धारा अनेक टुकडो मे बट गयी थी । वैदिक परम्परा के अनेक विचारक थे तथा श्रमण-परम्परा मे ६–७ तीर्थङ्करो का अस्तित्व था । प्रत्येक अपने को इस परम्परा का २४वा तीर्थङ्कर प्रमाणित करने मे लगा था । ये सभी विचारक अपनी दृष्टि से सत्य को पूर्णरूपेण जान लेने का दावा कर रहे थे । प्रत्येक के कथन मे दृढता थी कि सत्य मेरे कथन मे ही है, अन्यत्र नही । इसका परिणाम यह हुआ कि अज्ञानी एव अन्धविश्वासी लोगो का कुछ निश्चित्त समुदाय प्रत्येक के साथ जुड गया था । अत प्रत्येक सम्प्रदाय का सत्य अलग-अलग हो गया था ।

महावीर यह सब देख-सुनकर आश्चर्य मे थे कि सत्य के इतने दावेदार कैसे हो सकते है ? प्रत्येक अपने को ही सत्य का बोधक समझता है, दूसरे को नही । ऐसी स्थिति मे महावीर ने अपनी साधना एव अनुभव के आधार पर कहा कि सत्य उतना ही नही है, जिसे मैं देख या जान रहा हू । यह वस्तु के एक धर्म का ज्ञान है । एक गुण का । पदार्थ मे अनन्त गुण एव अनन्त पर्यायें हैं । किन्तु व्यवहार मे उसका कोई एक स्वरूप ही हमारे सामने आता है । उसे ही हम जान पाते हैं । अत प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष रूप से हो सकता है । पदार्थों का ज्ञान करने के दो साधन हैं—प्रमाण एव नय । जब हम केवल-

ज्ञान जैसे प्रामाणिक ज्ञान के अधिकारी होते है तब वस्तु को पूर्णरूपेण जानने की क्षमता रखते हैं। किन्तु जब हमारा ज्ञान इससे कम होता है तो हम वस्तु के एक अश को जानते हैं, जिसे नय कहते हैं। लेकिन जब हम वस्तु को जानकर उसका स्वरूप कहने लगते है तो एक ममय मे उसके एक अश को ही कह पायेंगे। अत सत्य को सापेक्ष मानना चाहिए।

उम युग मे महावीर की इस बात से अधिकाश लोग सहमत नही हो पाये। लोगो को आश्चर्य होता यह देखकर कि यह कैसा तीर्थङ्कर है, जो एक ही वस्तु को कहता है 'है' और कहता है 'नहीं है'। अपनी बात को भी सही कहता है और जो दूसरो का कथन है उसे भी गलत नही मानता। इस आश्चर्य के कारण उस युग मे भी महावीर के अनुयायी उतने नही बने, जितने दूसरे विचारको के थे। क्योकि व्यक्ति तभी अनुयायी बनता है, जब उसका गुरु कोई बधी-बंधाई बात कहता हो। जो यह सुरक्षा देता हो कि मेरा उपदेश तुम्हे निश्चित रूप से मोक्ष दिला देगा। महावीर ने यह कभी नही कहा। इस कारण उनके ज्ञान और उपदेशो के वही श्रावक बन सके जो स्वय के पुरुषार्थ मे विश्वास रखते थे एव बुद्धिमान थे।

महावीर जैसा गैरदावेदार आदमी ही नही हुआ इस जगत् मे। उनका एकदम असाम्प्रदायिक चित्त था। इसी कारण वे सत्य को विभिन्न कोनो मे देख सके हैं। महावीर के पूर्व उपनिषद् कहते थे कि ब्रह्म की व्याख्या नही हो सकती। बडा अद्भुत है उसका स्वरूप। महावीर ने कहा ब्रह्म तो बहुत दूर की चीज है, तुम एक घडे की ही व्याख्या नही कर मकते। उमका अस्तित्व भी अनिर्वचनीय है। इमे महावीर ने विस्तार से ममझाया।

महावीर के पूर्व मत्य के मम्बन्ध मे तीन दृष्टिकोण थे (१) है, (२) नही है और (३) दोनो नही भी एव है भी। घट के सम्बन्ध मे यह कहा जाता था कि वह घट है, कोई कपडा आदि नही। घट नही है, क्योकि वह तो मिट्टी है। तथा घडे के अर्थ मे वह घडा है तथा मिट्टी के अर्थ मे घडा नही है। इस प्रकार वस्तु को इस त्रिभगी मे देखा जाता था। महावीर ने कहा कि सिर्फ तीन से काम नहीं चलेगा। सत्य और भी जटिल है। अत उन्होंने इसमे चार सम्भावनाए और जोड दी। उन्होने कहा कि घट स्यात् अनिर्वचनीय

है, क्योकि न तो वह मिट्टी कहा जा सकता है और न घडा ही। इसी अनिर्वचनीय को महावीर ने प्रथम तीन के साथ और जोड दिया। इस प्रकार सप्तभगी द्वारा वे पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या करना चाहते थे।

इस सप्तभगी नय को महावीर ने अनेक दृष्टान्तो द्वारा समझाया है। उनमे छह अन्धो और हाथी का दृष्टान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। आप इसे अन्य उदाहरण से समझें। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, मामा, भानजा, काका, भतीजा इत्यादि सभी हो सकता है। एक साथ होता है। किन्तु उसे ऐसा सब कुछ एक साथ नही कहा जा सकता। उसकी एक विशेषता को मुख्य और शेष को गौण रखकर ही कहना होगा। यहा गौण रखने का अभिप्राय उसकी विशेषताओ का अस्वीकार नही है और न सशय या अनिश्चय ही। वल्कि व्यावहारिकता का निर्वाह है। अत किसी वस्तु का युगपद् कथन न जरूरी है और न सम्भव। फिर भी उसकी पूर्णता अवश्य वनी रहती है। वस्तुओ के इस अनेकत्व को मानना ही अनेकान्तवाद है।

पदार्थों की अनेकता स्वय द्रव्य के स्वरूप मे छिपी है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य से युक्त होता है। प्रत्येक क्षण उसमे नयी पर्याय की उत्पत्ति, पुरानी पर्याय का नाश एवं द्रव्यपने की स्थिरता वनी रहती है। इसी वात को कहने के लिए महावीर ने अनेकान्त की वात कही। वस्तु का अनेक धर्मा होना 'अनेकान्तवाद' है तथा उससे अभिव्यक्त करने की शैली का नाम 'स्याद्वाद' है। स्याद्वाद कोई सशयवाद नही है। अपितु 'स्यात्' शब्द का प्रयोग वस्तु के एक और गुण की सम्भावना का द्योतक है।

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद की जितनी दर्शन व चिन्तन के क्षेत्र मे आवश्यकता है, उससे कही अधिक व्यावहारिक दैनिक जीवन मे। अनेकान्तवाद की यही निस्पत्ती है कि हम अपने-आप को इतना तैयार करें कि दूसरे को सुन सकें। कहने की क्षमता से वहुत वडी है दूसरे के विचारो को सुन पाने की क्षमता। इससे व्यक्ति का अहंकार तो तिरोहित होता ही है, वह सत्य के अन्य कोनो को भी जान लेता है, जहा उसकी दृष्टि नही पहुची थी।

महावीर की इस विचारधारा द्वारा समन्वय का वातावरण प्रत्येक युग मे तैयार किया जा सकता है। क्योकि एकान्त विग्रह है, फूट है। जवकि अनेकान्त

मैत्री है, सधि है। इसे यो भी समझ सकते है कि जिस प्रकार सही मार्ग पर चलने के लिए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय यातायात सकेत बने हुए हैं और पथिक उनके अनुसरण से ठीक-ठीक चल लेते है। उसी प्रकार स्वस्थ्य चिन्तन के मार्ग पर चलने के लिए अनेकान्तवाद द्वारा महावीर ने सात सकेतो की रचना की है। इनका अनुगमन करने पर किसी बौद्धिक दुर्घटना की आशका नही रह जाती। अत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे समन्वय के लिए अनेकान्तवाद एक विश्वसनीय चिन्तन-प्रणाली है। ज्ञान की सार्थकता इसी मे है।

इस प्रकार महावीर ने मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र का जो मार्ग बतलाया था उसके दो सोपान पूरे हुए। तीसरा मार्ग इन दोनो की अभिव्यक्ति का ही है। महावीर बडे व्यवस्थित चिन्तक थे। सम्यग्दर्शन मे मात्र जगत् के प्रति एक आस्थावान दृष्टि होती है। इसमे व्यक्ति कही बीच में नही आता। सम्यग्ज्ञान होते ही 'मैं' का प्रवेश हो जाता है। क्योकि ज्ञान किसी आत्मा को ही होगा और उसकी सामर्थ्य के अनुसार हीनाधिक भी होगा। किन्तु जब ज्ञान प्राप्त हो गया। तत्वज्ञान की जानकारी हो गयी तो उस ज्ञान के अनुरूप आचरण भी प्रगट होगा। आचरण किसी व्यक्ति का अकेला नही होता। अत. इसमे समाज भी आ जाता है। यह साधक की कसौटी है कि वह अकेला जो ज्ञान प्राप्त करता है, अपने आचरण द्वारा उसका समाज को क्या लाभ पहुचाता है। वास्तव मे ज्ञानी साधक का आचरण तो फूल की सुगन्ध की भाति होगा और उसके ज्ञान को अधिक विशुद्ध करने मे सहायक होगा। अत महावीर ने दर्शन और ज्ञान की प्राप्ति के बाद चारित्र की क्या अन्विति होगी इसका दिग्दर्शन कराया है। इस कला मे भी वे पूर्ण मर्मज्ञ सावित हुए हैं।

'इस सबकी कथा अब मैं कल कहूगा। मुझे विश्राम की आज्ञा दे।' आचार्य कश्यप के इस कथन के साथ ही सभा विसर्जित हो गयी।

००

२८. समत्व के प्रतिरूप

'आयुष्मान् ! आज हम सम्यक् चारित्र के सम्बन्ध मे बात करेंगे । भगवान महावीर ने जो कुछ अपनी साधना मे उपलब्ध किया था उसे अपने आचरण द्वारा प्रगट भी किया है । उनका जो आचरण है, वह एक साधु का है, तपस्वी का है । किन्तु उन्होने समाज मे रहने वाले श्रावक गृहस्थ के आचरण के सम्बन्ध मे भी प्रकाश डाला है । विशेषता यह है महावीर के कथन मे कि वे आचरण से ज्ञान की ओर बढने की बात नही कहते । उनका अनुभव यह रहा है कि ज्ञान उपलब्ध होने के बाद ऐसा आचरण प्रगट होना चाहिए, जिसमे स्वय का एव आस-पास के वातावरण का कल्याण निहित हो । महावीर के गृहस्थधर्म एव मुनिधर्म के सम्बन्ध मे क्या विचार थे एव क्या अनुभव, इनकी चर्चा बाद मे करूंगा । उन तक पहुचने के लिए शास्त्रो मे गृहस्थ व मुनियों के आचार का जो वर्णन है, पहले उसे भूमिका के रूप मे प्रस्तुत करता हू ।

गृहस्थो के प्रमुख पाच व्रतो का वर्णन ग्रन्थो मे मिलता है । अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन एव अपरिग्रह । हिंसा न करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना एव परिग्रह न रखना । इन पाचो को गृहस्थ का धर्म इसलिए स्वीकार किया कि समाज मे मुख्य रूप से बैर और विरोध की जनक यही पाच क्रियाए हैं । साथ ही गृहस्थजीवन मे यदि इन क्रियाओ मे परिष्कार सम्भव हो सका तो आगे की साधना मे प्रविष्ट हुआ जा सकता है । जितने अग मे व्यक्ति इनका पालन करने लगेगा उतना ही वह सामाजिक एव निस्वार्थी होता जायेगा । अत इन पाच व्रतो का विधान वैयक्तिक एव सामाजिक शोधन की दिशा मे अपना विशेष महत्त्व रखता है । गृहस्थो के लिए इन व्रतो को उनकी सामर्थ्य के अनुसार पालन करने को कहा गया है । सम्भवत गृहस्थो का चित्त इतना ही समर्थ हो पाता होगा कि वे इन व्रतो के पालन मे प्रवेश कर सकें । पूर्णता तो उन्हे साधु जीवन मे ही दी जा सकेगी ।

इन पाचो अहिंसा आदि व्रतो की विशेष जानकारी शास्त्रो मे इस प्रकार दी गयी है।

अहिंसा की परिभाषा हिंसा के भेद-प्रभेदो का वर्णन करके दी गयी है। प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है। इसका अर्थ है कि मन की रागद्वेषात्मक कपायो द्वारा किसी भी प्राणी को मारना या उसे पीडा पहुचाना हिंसा है। यह दो प्रकार की है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपनी शारीरिक क्रिया द्वारा किसी जीव को प्राणो से हीन करना द्रव्यहिंसा एव मन मे किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है। इस दूसरी हिंसा के करने मे व्यक्ति पाप से अधिक युक्त होता है। क्योकि ऐसा विचार करते ही वह स्वय अपनी आत्मा के गुणो का घात करता है। गृहस्थ की सीमाओ के अनुसार चार प्रकार की हिंसा कही गयी है—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी। इनमे से सकल्पी हिंसा का गृहस्थ पूर्ण त्याग कर सकता है तथा शेष तीन के विपय मे सामर्थ्य के अनुसार सयम कर सकता है। यही उसकी अहिंसा है। इस अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिए परिजनो व पशुओ के साथ व्यक्ति को क्रूरतापूर्ण व्यवहार नही करना चाहिए। इन्हे अतिचार कहा गया है, जिनसे बचने का प्रयत्न श्रावक को करना चाहिए।

असद् वोलना अनृत, असत्य, मृषा या झूठ कहलाता है। असद् का अर्थ है—वस्तुस्थिति के प्रतिकूल एव अनहितकारी वचन बोलना। इससे ज्ञात होता है कि सत्यव्रत के मूल मे आत्मपरिणामो की शुद्धि तथा स्व एव परहितो की रक्षा करने का भाव निहित है। इसमे भी पाच अतिचारो का निषेध तथा पाच भावनाओ का पालन करने को कहा गया है।

बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना अदत्तादान रूप स्तेय या चोरी है। इससे वचना अचौर्यव्रत का पालन करना है। दूसरे से चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, सीमा के वाहर आयात-निर्यात करना, माप-तौल मे कूटता करना तथा वस्तुओ मे मिलावट करना ये पाच अचौर्यव्रत के अतिचार हैं, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिए।

स्त्री-अनुराग व कामक्रीडा के परित्याग का नाम ब्रह्मचर्यव्रत है। इसके पाच अतिचार एवं पाच भावनाओ द्वारा व्यक्ति की कामवासना को मर्यादित

तथा समाज से तत्सम्वन्धी दोपो का परिहार करने का प्रयत्न किया गया है।

पशु, परिजन ग्रादि सजीव एव घर-द्वार, घन-घान्य ग्रादि निर्जीव वस्तुग्रो मे ममत्व का त्याग करना पाचवा व्रत ग्रपरिग्रह है। गृहस्थो के लिए ग्रावश्यक वस्तुओ के अतिरिक्त ग्रन्य चीजो के प्रति ग्रासक्ति न करने को कहा गया है। इन पाच व्रतो के पालन एव इनकी सुरक्षा द्वारा ही श्रावक ग्रात्मकल्याण के मार्ग पर ग्रागे बढ सकता है।

'गुरुदेव ! भगवान महावीर ने क्या उपर्युक्त ढग से ही पाच व्रतो के स्वरूप आदि का वर्णन किया था ग्रथवा यह उनके वचनो का प्रस्तुतीकरण है ? स्पष्ट करें ग्राचार्य।'

'देवी कनकप्रभा ! तुम्हारा सोचना एकदम ठीक है। महावीर ने इन पाच व्रतो के लिए उस शब्दावली का प्रयोग नही किया होगा, जो शास्त्रो मे मिलती है। वास्तव मे उन्होने ग्रपनी देशना मे शब्दो का ही प्रयोग नही किया। उनसे एक ध्वनि निकलती थी, जिसके ग्रर्थ श्रावक ग्रहण करते थे। ग्रौर दूसरी बात यह कि महावीर बहुत गहरे चितक थे। वे मूल को पकडते थे, फल ग्राना जिनमे ग्रनिवार्य हो जाता था। अत उन्होने इन पाचो व्रतो की व्याख्या एकदम दूसरे ढग से की है, जो ग्रधिक ग्राह्य एव मजबूती की पकड है। यद्यपि उपर्युक्त परिभाषा एव महावीर की व्याख्या मे मूलत कोई विरोध नही है। दोनो एक ही लकीर के दो छोर हैं। महावीर भीतर से बाहर ग्राना चाहते हैं। उनको सुनने वाले लोगो ने समझा कि बाहर से भीतर पहुचा जा सकता है। भीतर के स्वरूप को दोनो बदलना चाहते हैं।

महावीर का अनुभव था कि यदि स्वानुभूति का विस्तार किया जाय तो हिंसा स्वमेव तिरोहित हो जायेगी। हिंसा होती ही दूसरो के साथ है। जब तक बाहर दूसरा बना रहेगा, हिंसा की सम्भावना बनी रहेगी। दूसरे को सुख पहुचाने की बात जब तक हम सोचते रहेगे, अहिंसक नही हो सकते। क्योकि हमारा सुख पहुचाना भी उसे पीडा दे सकता है। ग्रत जब तक हम 'दूसरे' के भाव को ही न मिटा दें, अहिंसा प्रगट नही होगी। और दूसरा तब तक दिखायी पडता रहेगा, जब तक आप स्वय को न पहिचान लें। ग्रत महावीर ने बहुत छोटी-सी परिभाषा दी है—ग्रात्मज्ञान ग्रहिंसा है, ग्रात्म-अज्ञान हिंसा।

अब इसे कितना ही विस्तार दिया जा सकता है ।

इस सन्दर्भ मे महावीर की छोटी-सी घटना को सामने रखकर समझें। महावीर यदि चीटी से बचकर चल रहे हैं तो उसमे वही कारण नहीं है जो साधारण अहिंसक कहे जाने वाले का होता है। हम और आप इसलिए चीटी को बचाकर चलेंगे कि कही वह हमारे द्वारा मर न जाय। उसके मरने से हम पाप के भागी होंगे। अत अपने पापी न होने देने के लिए हम उसे बचाते हैं। यहा हमारे अहंकार और स्वार्थ मे कोई अन्तर नही आया। ऐसी स्थिति मे महावीर का सोचना यह है कि वे चीटी से इसलिये बचकर चल रहे हैं कि कही अपने पर ही पैर न पड जाये। वे अपनी आत्मा और चीटी की आत्मा को समान मानते हैं। अपनत्व का इतना विकास कि किसी को सताना असभव हो जाय, वही वास्तविक अहिंसा है।

महावीर की अहिंसा को बडी गहराई मे समझा जा सकता है। मासाहार का त्याग उन्होंने इसलिए नही किया कि किसी प्राणी को मारना पाप-बन्ध का कारण है। उनके मन मे यदि यह विचार होता तो मरे हुए प्राणी का मास खाने मे यह खतरा भी दूर हो जाता। किन्तु महावीर ने अपनी आत्मा का जीवन के उस तल तक विकास किया था, जहा छोटे-से-छोटा प्राणी भी उनसे सवाद कर सकता था। महावीर को अपनी आत्मा का ही विस्तार समस्त प्राणी जगत् लगता था। अत कोई अपनी ही आत्मा व अपने ही शरीर को कैसे मारकर खा सकता है ? एकदम असभव। इस प्रकार महावीर ने आत्मज्ञान के विकास को ही प्रमुखता दी, जो बीजरूप है। अहिंसा आदि पाच व्रत तो उसके अनिवार्य फल हैं।

अन्य व्रतो के सम्बन्ध मे भी महावीर का दृष्टिकोण अधिक विशाल है। सत्य का पालन मात्र झूठ बोलने से बचना नही है। ऐसा तो कोई भी दुहरे व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अभ्यास से कर सकता है। किन्तु उसे व्रती नही कहा जा सकता और न ही उससे वह फलित होगा जो सत्य को हृदयगम करने वाले से होना चाहिए। अत. सत्यव्रत का अर्थ है कि जगत् की सत्यता, यथार्थता को जानना। तत्वज्ञान से परिचित होना। जब व्यक्ति को यह पता चल जाय कि मेरे अस्तित्व की सार्थकता क्या है, तथा मेरा और जगत् का

सबंध क्या है तो वह झूठ नही बोल सकता। असत्य किसी न किसी लालच की तीव्रता के कारण बोला जाता है। उस कामना की वास्तविकता जब समझ मे आ जाय तो जीवन से वही प्रगट होगा जो भीतर है। अत महावीर की दृष्टि मे सत्यव्रत के पालन का अर्थ है अन्तस् की यथावत् प्रस्तुति। कपट का, द्वन्द्व का सर्वथा अभाव।

अचौर्यव्रत के सम्बन्ध मे महावीर ने वडी गहरी वात कही है। उनका अनुभव है कि परत्व के कारण व्यक्ति हिंसा करता है। हिंसात्मक वह न दिखे इसलिए झूठ वोलता है। तथा असत्य मे जीने के कारण वह अपने और पर की पहिचान को भूल जाता है, इसलिए जो वस्तुए उसकी नही हैं, और न उसका साथ देने वाली हैं, उनका भी वह सग्रह करने लगता है। जब परिग्रह की लालसा तीव्र हो जाती है तो वह चोरी पर उतर आता है। अत परिग्रह का जो विकृत रूप है वह चोरी का जन्मदाता है। इस कारण अचौर्य का सम्बन्ध किसी की वस्तु विना आज्ञा ग्रहण न करना लगा लिया गया।

किन्तु अचौर्यव्रत की इतनी ही अर्थवत्ता नही है। महावीर जैसी आत्माएं इतने छोटे कार्यों के लिए प्रेरित नही करती। अचौर्यव्रत का पालन करना गहन आध्यात्म से भी सम्बन्धित है। महावीर का सोचना है कि यह बिल्कुल सत्य है कि दूसरे की वस्तु को अपनी वना लेना चोरी है। इस प्रवृत्ति से वचना चाहिए। महावीर कहते हैं कि हम इस समझ को जागृत करें कि हम वहुत पुराने चोर हैं। जन्म-जन्मान्तरो से हम शरीर को अपना मानते हुए चले आ रहे हैं। अपने साथ रखते हैं। मनमाना उसका उपयोग करते हैं। अत यदि अचौर्यव्रत का पालन करना है तो सर्वप्रथम यह समझ मे आ जाना चाहिए कि मेरी आत्मा अलग और शरीर अलग है। शरीर के ऊपर से अपने स्वामित्व को हटाना ही अचौर्य मे प्रवेश होगा। शरीर से स्वामित्व हटते ही अन्य वस्तुओ की चोरी करने की आवश्यकता नही रहेगी।

इसी प्रकार अचौर्य का अर्थ है कि हमारे व्यक्तित्व मे जो कुछ भी पराया है—दूसरे का आचरण व दूसरे के विचार उन सव से मुक्ति ले लेना। प्राय हम कभी किसी के व्यक्तित्व को ओढते हैं तो कभी किसी के विचार द्वारा अपने को प्रगट करते हैं। यह इसलिए होता है कि हम स्वय को नही पहिचान

पाते। अपनी शक्ति से परिचित नही हो पाते। अत: अचौर्यव्रत के पालन का अर्थ है स्वय मे लौटना। क्योकि हो सकता है कि कभी समृद्धि इतनी अधिक हो जाय कि वस्तुओ की चोरी की आवश्यकता ही न रहे, लेकिन तव भी पर पदार्थों की चोरी होती रहेगी। अत आन्तरिक चोरी से वचना ही अचौर्य है, जो निजी व्यक्तित्व के प्रकाशन से ही सम्भव है।

ब्रह्मचर्य के सम्वन्ध मे भी महावीर की धारणा आध्यात्म से जुडी हुई है। वे मानते हैं कि शरीर मे अनेक प्रकार की शक्तिया होती है, जिनका निष्कासन मैथुन आदि क्रियाओ के द्वारा होता है। उसके वाद व्यक्ति रिक्त हो जाता है। शक्तियो से रिक्त होने का दूसरा माध्यम है कि उनको पैदा ही न होने दिया जाय। व्रत, उपवास, निराहार आदि द्वारा इन पर रोक लगायी जा सकती है। किन्तु इससे भी व्यक्ति मे रिक्तता ही आयेगी। अत कामक्रियाओ द्वारा शक्ति को रिक्त करना अथवा उनको पनपने ही न देना इन दोनो स्थितियो मे कोई विशेष अन्तर नही है। आध्यात्मिक उपलब्धि दोनो से नही होती। अत महावीर का कथन है कि ब्रह्मचर्य का अर्थ होना चाहिए ब्रह्म अर्थात् परमात्मा जैसा आचरण। परमात्मा का आचरण निरन्तर 'स्व' के विकास एव उसको निर्मल वनाने मे होता है। अत व्यक्ति मे जो शक्तिया हैं उनका वहाव वाहर की ओर न करके अन्दर की ओर यदि किया जाय तो ब्रह्मपने की उपलब्धि हो सकती है। यही अकाम की साधना है। इससे जन्म-मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है।

पाचवें व्रत के सम्वन्ध मे महावीर की दृष्टि एकदम निर्मल है। दूसरो की वस्तुओ के हम इसलिए स्वामी होना चाहते हैं क्योकि हम असुरक्षा मे जीते हैं। हमे निरन्तर यह भय लगा रहता है कि इस वस्तु के न होने पर, इस नौकर या अंगरक्षक के न होने पर, इस महल या सवारी के न होने पर मेरा जीवन दूभर हो जायेगा। इसलिए इन सवका सग्रह है। दूसरी वात इसमे यह है कि व्यक्ति अपने सुख के सिवा दूसरे को सुखी नही देख सकता। जो देखते हैं वे दूसरो को 'दूसरा' नही मानते। इस कारण वस्तुओ का सग्रह करते समय दूसरे का हक छीनने का भी ध्यान नही रहता। और ध्यान रहता भी है तो उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नही रहती। इस कारण उन समस्त

वस्तुओ मे जिनमे व्यक्ति की सुरक्षा व सुविधा जुडी होती है, व्यक्ति का ममत्व हो जाता है। यह ममत्व का भाव ही, मूर्च्छा का विकास ही परिग्रह है।

महावीर का सोचना है कि वाह्य वस्तुओ के व्यवहार को सीमित कर देना या त्याग देना अपरिग्रह के भाव को नही ला सकता। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति पहले अपनी आत्मा की शक्ति को पहिचाने। उसकी पूर्णता से परिचित हो तो वह व्यर्थ की वस्तुओ से अपने को पूर्ण नही बनायेगा। वह जब स्वय का मालिक बन जायेगा तो अन्य वस्तुओ व व्यक्तिओ के मालिक बनने की उसे आवश्यकता नही रहेगी। अत अपरिग्रही होने का अर्थ है— अभय की प्राप्ति। निर्भयी व्यक्ति का सग्रह स्वमेव सबके लिए वितरित हो जाता है।

इस प्रकार महावीर ने इन पाचव्रतो के मूल मे एक सुचिंतित आध्यात्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। आत्मज्ञान की निर्मलता को इनके साधने का साधन माना है। महावीर ने स्वय को इतना विस्तृत किया है कि प्रत्येक प्राणी मे उन्हे अपने समान ही आत्मतत्व के दर्शन हुए हैं। अत उनका समत्व का विकास इन पाचव्रतो का मूल आधार है। जो श्रावक इस गहरायी तक उतरकर इनकी साधना करेगा उसके आचरण मे वह सब अभिव्यक्त होगा, जिनकी अपेक्षा शास्त्रो के विस्तृत वर्णनो मे प्राप्त होती है। अत श्रमणधर्म मे मोक्ष प्राप्त करने का जो चारित्र को साधन माना गया है, उसका अर्थ है कि ऐसा आचरण जो साधक की आत्मा से प्रगट हो। तभी समत्व का विकास समाज के प्रत्येक प्राणी तक हो सकेगा।

००

२७. आचारशास्त्र के मर्मज्ञ

'आचार्यप्रवर ! पहली बार सुन रहे हैं हम इन व्रतो की यह आध्यात्मिक व्याख्या । इससे महावीर का व्यक्तित्व सचमुच ही अन्य विचारको से ऊपर उठा हुआ है । गुरुदेव ! गृहस्थ एव मुनियो के लिए श्रमण-धर्म मे और किस आचरण का विधान है, उसे भी कहे । जिज्ञासा है सुनने की ।'

'भद्र चित्रागद ! आपकी सबकी जिज्ञासा वृद्धि को प्राप्त होती रहे यही मेरे कथन की सार्थकता है । वह सब कहता हू, जिसे तुम सुनना चाहते हो ।'

महावीर की वाणी जिन ग्रन्थो मे सगृहीत की गयी है उनमे उपर्युक्त व्रतो के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिए ऐसी भावनाओ का भी विधान किया गया है, जिनसे असद् वृत्तियो के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो । जीवनमात्र के प्रति 'मैत्री' भावना, गुणीजनो के प्रति 'प्रमोद', दीन-दुखियो के प्रति 'कारुण्य' तथा विरोधियो के प्रति रागद्वेष व पक्षपात के भाव से रहित 'माध्यस्थ-भाव' । इन चार वृत्तियो का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिए, जिससे तीव्र रागद्वेपात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाएं जागृत ही न होने पावें । इस प्रकार का दृष्टिकोण आत्मोपलब्धि मे तो सहायक होता ही है, इससे नैतिक आचरण द्वारा समाज भी सुसस्कृत बनता है । महावीर की यह विशेषता रही है कि वे समाज से भागने को नही, उसे बदलने की निरन्तर प्रेरणा देते रहे हैं ।

गृहस्थो के लिए अहिसा आदि पाच मूलव्रतो के अतिरिक्त महावीर के धर्म मे कुछ ऐसे व्रतो का भी विधान किया गया है कि जिनसे व्यक्ति की तृष्णा व सचयवृत्ति का नियन्त्रण हो, इन्द्रिय लिप्सा का दमन हो और उदारचित्त का विकास हो । ऐसे तीन गुणव्रत हैं तथा चार शिक्षाव्रत । अपने जीवन की आवश्यकताओ का संचय चार दिशाओ की किसी निश्चित सीमा से करना

'दिग्व्रत' है। इसके भीतर अल्पकाल की मर्यादा निश्चित कर व्यापार आदि करना देशव्रत है। तथा पापात्मक उपदेश एव दूसरो को अस्त्र-शस्त्र, विप, बन्धन आदि ऐसी वस्तुओ को, जिनसे हिंसा आदि कार्यों की सम्भावना हो, न देना 'अनर्थदण्डविरति' कहा गया है। इन तीनो व्रतो के अभ्यास से मूल-व्रतो के गुणो की वृद्धि होती है तथा श्रावक की आत्मा के गुण प्रकट होते हैं इसीलिए इन्हे गुणव्रत कहा गया है।

महावीर की यह विशेषता थी कि वे शब्दो को नये अर्थ देने मे सिद्धहस्त थे। सामाजिक सन्दर्भ मे यह 'अनर्थदण्डव्रत' अद्भुत प्रयोग है। इस व्रत का श्रावक के लिए अर्थ है कि वह उस सबको विसर्जित कर दे जो उसके जीवन की अनर्थता है, प्रयोजनहीनता है। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जीवन में जिसका प्रयोजन देखो उसका उपयोग करो और आगे बढ़ जाओ। सचय मत करो। मार्ग मे अनर्थ खडे रहकर दूसरे का मार्ग मत रोको। यह एक कलाकार की दृष्टि है, भद्र श्रीकण्ठ! इसीलिए मैं इस पर जोर दे रहा हू। मूर्त्तिकार शिलाखण्ड मे से उस समस्त अनर्थ अश को छाट देता है, जिसका कोई प्रयोजन नही है। और जो बचता है वह होती है एक भव्य कलाकृति। अत तुम सब महावीर के जीवन से इस प्रेरणा को लेकर ही साधना मे बैठना। अस्तु, अब मैं आगे की बात करू।

शिक्षाव्रतो का अर्थ है—ऐसे व्रत जिनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। इनमे प्रथम है—सामायिक। सामायिक का अर्थ है—समताभाव का आह्वान। मन की ऐसी साम्यावस्था, जहा समस्त असद्-वृत्तियो का शमन हो जाय। सामायिक के अभ्यास के लिए गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्यान्ह, सायकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक वार एकान्त मे शान्त और शुद्ध वातावरण मे बैठकर मन को धर्म-चिन्तन मे लगाने का विधान किया गया है। धार्मिक क्रियाओ मे ही दिन व्यतीत करना 'प्रोपधोपवास' है, इससे भूख-प्यास आदि की स्थिति मे एकाग्र रहने का अभ्यास होता है। दैनिक खान-पान एव उपयोग की वस्तुओ का क्रमश त्याग व सीमा बाधना 'भोगोपभोगपरिमाण' व्रत है। तथा अतिथियो को सत्कारपूर्वक आहार

आदि दान देना 'अतिथिसविभाग व्रत' है। इन पाच मूलव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत, वारह व्रतो के पालन द्वारा श्रावक के जीवन का परिशोधन कर उसे आत्मकल्याण के मार्ग मे प्रवृत्त करना ही श्रमण-धर्म का उद्देश्य है।

इन व्रतो मे 'सामायिक' शब्द भी महावीर की गहन-सूझ-बूझ और प्रज्ञा का द्योतक है। सामान्यत सामायिक का वही अर्थ लिया जाता है, जो अभी मैंने कहा। किन्तु यह तो असली सामायिक मे उतरने की तैयारी है। महावीर ने आत्मा को 'समय' अकारण नही कहा है। अस्तित्व हमेशा काल मे ही रहना है। अत ऐसे क्षण की पकड़, जब अस्तित्व अतीत और भविष्य से सिमट कर वर्तमान मे हो तो उसे समय कहा जा सकता है। इस प्रकार समय नाम है आत्मा का और सामायिक मे होने का अर्थ है—आत्मा मे होना। आत्मा मे होना वह है, जब केवल अस्तित्व का बोध हो। 'मैं' और कर्ता आदि का नही। इस प्रकार सामायिक जैसे अनेक शब्द महावीर ने दिये है जो व्यक्ति को आत्मा के समीप ले जाने मे परम सहायक है। श्रावक का गृहस्थधर्म इन शब्दो व व्रतो के पीछे छिपे अर्थ को खोज निकालने मे ही सार्थक होता है।

महावीर ने न केवल जीवन के विविध आयामो को धार्मिकता प्रदान की है, अपितु ग्रहस्थ को मरने की भी कला सिखायी है। अद्भुत था वह आदमी जो कोई भी क्रिया तथा किसी भी क्षण को व्यर्थ नही होने देना चाहता था। महावीर ने एक शब्द का प्रयोग किया है वह है—'सल्लेखना' या 'समाधि-मरण'। इसका अर्थ है कि जब व्यक्ति मृत्यु के समीप हो तो वह साधना मे उतर जाये। ममत्व का त्याग कर यह चितन करे कि मेरी आत्मा अब नयी यात्रा प्रारम्भ कर रही है अत उसके लिए अपने परिणामो को विशुद्ध रखू। जीवैषणा का त्याग करता हुआ वह क्रमश निरहकार हो जाय। ऐसा करने पर व्यक्ति को अगले जन्म मे साधना करने के लिए समुचित वातावरण की प्राप्ति हो सकती है।

श्रावक जैसे-जैसे व्रतो का पालन करता जाता है, वैसे ही उसकी आत्मा की निर्मलता वढती जाती है। उसके विकास की श्रेणियाँ वनती जाती हैं।

श्रमण-धर्म मे श्रावक की ऐसी ग्यारह श्रेणिया मानी गयी हैं, जिन्हे प्रतिमाएं कहा गया है। प्रथम दर्शन प्रतिमा है, जिसमे व्यक्ति अपनी दृष्टि को आत्म-कल्याण के मार्ग पर स्थिर करता है। द्वितीय व्रत प्रतिमा मे वह पूर्वोक्त बारह व्रतो की साधना प्रारम्भ करता है। तृतीय सामायिक प्रतिमा मे वह ध्यान एकाग्र करने योग्य हो जाता है। चतुर्थ प्रोपधोपवास प्रतिमा उसको 'उपवास' आदि का अभ्यास कराती है। पाचवी सचित्त-त्याग प्रतिमा मे वह हिंसादि कार्यों से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है। छठी प्रतिमा मे वह रात्रि-कालीन भोजन इसलिए नही करता क्योकि इससे वह कई दोषो से बच जाता है। सातवी ब्रह्मचारी प्रतिमा मे वह मैथुन से विरत हो जाता है। आठवी आरम्भत्याग प्रतिमा मे वह गृहस्थी की आजीविका आदि से मुक्त हो जाता है। नवी परिग्रह-त्याग प्रतिमा मे वह वस्तुओ के प्रति अपनी मूर्च्छा को तोड लेता है। दसवी प्रतिमा मे वह परिवार के लोगो से परामर्श करना भी छोड देता है। तथा ग्यारहवी उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा मे व्यक्ति साधु होने की तैयारी मे हो जाता है। इसके बाद या तो वह गृहस्थ-जीवन मे रहकर साधु जैसा रहता है या फिर पूर्णतया साधु की वृत्ति अपना लेता है। एक दो विशेषताओ को छोडकर।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि महावीर ने गृहस्थ को समाज मे रहते हुए भी आत्मकल्याण करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया है। यह अब उसकी साधना पर निर्भर है कि वह कितना आत्मानुरागी एव मोक्षमार्ग का पथिक बनना चाहता है। एक बात और है कि श्रावक के इस गृहस्थधर्म मे अनेक व्रत व श्रेणिया होते हुए भी यदि किसी व्यक्ति का आत्मबोध अत्यन्त प्रबल है तो वह सीधे साधु भी हो सकता है। अत महावीर द्वारा प्रणीत आचार सम्बन्धी व्यवस्थाए वही तक सार्थक है जब तक वे आत्मकल्याण के मार्ग को प्रशस्त करें। अन्यथा उनका पालन करना कोई आग्रह नहीं है।

श्रावकधर्म की अतिम श्रेणी से मुनिधर्म प्रारम्भ होता है, जिसमे आत्म-बोध का पूर्ण विस्फोट होता है। आत्मा एव शरीर की भिन्नता का स्पष्ट अनुभव तथा निर्मल ज्ञान की प्राप्ति मुनिधर्म के लिए आवश्यक है। इस

अवस्था मे मुनि के आचरण से मूलभूत पांचो व्रतों की पूर्णता का वोध होताहै। वह इतना अपरिग्रही एव निरहकारी हो जाता है कि आत्मकल्याण के मार्ग मे नग्न विचरण कर सकता है। उसका दिगम्बरत्व इस वात का साक्षीहोता है कि इस व्यक्ति ने अपनी सभी आवश्यकताए जगत् पर छोड दी हैं। सुरक्षा के प्रति यह पूर्ण अभय है इसके द्वारा सावे जाने वाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं, क्योंकि वह उनकी पूर्णता के साथ उन्हे पालन करता है। उसकी अहिंसा प्राणिमात्र तक विकसित हो जाती है। वह जगत् के सत्य भेदविज्ञान को पहिचान लेता है। उसकी मौलिकता उसके व्यक्तित्व से झलकती है। उसकी समस्त शक्तिया आत्मध्यान को निर्मल करती हैं। तथा वह अपनी आत्मा के अतिरिक्त और किसी का स्वामी नही होता है।

मुनि के इस स्वरूप को विकसित करने के लिए तथा उसकी सुरक्षा के लिए कुछ अन्य नियम भी हैं, जिनका महावीर के धर्म मे विधान है। वह पाच 'समितियो' का पालन करता है। तीन 'गुप्तियो' से रक्षित होता है तथा वारह 'अनुप्रेक्षाओ' मे अपने चित्त का शोधन करता है। इनके गर्भित अर्थ को भी जानें।

'समिति' का प्राचीन अर्थ था शासन पर नियन्त्रण। महावीर ने उसे आचरण पर नियन्त्रण के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। सावधानीपूर्वक अहिंसक शैली मे गमन ईर्यासमिति है। सम्प्रेषण का माध्यम भाषा पर नियमन भाषा-समिति है। एषणा-समिति व्यर्थ की आकाक्षाओ और मूर्च्छा से वचाती है। लेन-देन का व्यवहार इतनी सावधानी से करना कि किसी जीव का घात न हो तो वह आदान निक्षेपण समिति है। तथा उत्सर्ग समिति प्रत्येक कार्य को उसके निश्चित एव उपयुक्त स्थान पर करने की प्रेरणा देती है। इससे सामाजिक शालीनता भी वनी रहती है।

गुप्तियो का कार्य कर्मो के आश्रवद्वारो पर नियन्त्रण रखना है। अत मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो के प्रति सावधान एव अप्रमादी रहना मुनि के लिए अनिवार्य है तो श्रावक गृहस्थ के लिए आवश्यक भी।

अनुप्रेक्ष्या का अर्थ है पुन-पुन तत्वज्ञान का अन्वेक्षण। इससे योग के लिए अनासक्ति भावना का विकास होता है। क्षणभगुरता, अशरण, संसार-

अमरण एकाकीपन, आत्मा एवं शरीर आदि की भिन्नता, अशुचिता, कर्मों के आश्रव, सवर, निर्जरा, लोकदर्शन, आत्ममार्ग की दुर्लभता एव सच्चे धर्म के स्वरूप आदि का चिन्तन करते रहने से मुनि अपने को पहिचानने मे सशक्त हो जाता है। अत उसे अपनी धार्मिक प्रवृत्ति मे दृढता व स्थिरता प्राप्त होती है। धर्म के स्वरूप को वह उपलब्ध करने का प्रयत्न करने लगता है।'

००

२८. लोक-धर्म के प्रणेता

'प्रिय कलाकारो ! जानता हूँ जीवन की कथा और जीवन का दर्शन दोनो एक होते हुए भी उनके प्रस्तुतीकरण मे भिन्नता आ जाती है । आपने जितने चाव से भगवान महावीर की जीवनकथा सुनी, हो सकता है उतनी उत्कठा अब उनके धर्म व दर्शन की व्याख्या सुनने मे न हो । यह अस्वाभाविक नही है । धर्म व दर्शन सुनने-कहने के लिए कम समझने व करने के लिए अधिक उपयुक्त है । इनमे जो उतरना चाहते हो उन्हें तो अवश्य रस आने लगता है, किन्तु इनकी सार्थकता यह भी है कि यदि एक बार इनके स्वरूप का श्रवण हो जाय तो जीवन की दृष्टि तो बदल ही जाती है, भले आचरण बदलने मे समय लगे । अत जिन्हे महावीर के जीवन का यह अध्याय रुचिकर न लगे वे उठकर चले जाने के लिए स्वतन्त्र हैं । इससे एक सम्भावना कम से कम बनी रहेगी कि कभी आप इसकी रसानुभूति के लिए लौट सकते हैं । किन्तु यदि आप परवश यहा बैठकर इसे सुनते रहे तो आप के श्रावक होने की सम्भावना भी नही रह जाती । महावीर के धर्म मे दुहरे व्यक्तित्वो की कोई सार्थकता नही है । मौलिकता और स्वतन्त्रता के वे पक्षपाती हैं ।'

आचार्य कश्यप की दृष्टि शिल्पी-सघ पर एक कोने से दूसरे कोने तक घूम रही है । जहा नजर टिकती वही चेहरा खिले हुए कमल सा नजर आता । जलाशय-सी गहरी आखें जिज्ञासा से भरी हुई । वे आश्वस्त हुए अपने आचार्यत्व के प्रति । दूने उत्साह से भरकर उन्होंने देशना को आगे बढाया—

'भगवान महावीर ने मुनिधर्म की व्याख्या करते हुए उनकी तपश्चर्या आदि के सम्बन्ध मे जो कहा है उसे आपके समक्ष रखने के पूर्व मैं उस धर्म को प्रस्तुत करना चाहता हू, जिसे महावीर ने लोककल्याण के लिए प्रवर्तित किया है । महावीर ने यह कही नही कहा कि वे किस धर्म का प्ररूपण कर

रहे है। उन्होने धर्म के साथ हिन्दू, जैन, श्रमण आदि कोई विशेषण नहीं लगाये। यह बडी अद्भुत बात है धर्म के सम्बन्ध मे। सामान्यत ऐसा कम होता है। और जिसमे कोई विशेषण न हो वह धर्म लोक का ही हो सकता है। अत. महावीर धर्म के माध्यम से लोककल्याण की बात कहना चाहते थे।

धर्म की महावीर ने सबसे सूक्ष्म परिभाषा दी है—'वत्थुसहावोधम्मो'। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। अर्थात् आत्मा के स्वभाव मे से गुजरना धर्म मे से गुजरना है। महावीर की साधना पूर्णता की साधना रही है। वे परम को उपलब्ध करने का उद्देश्य रखते थे। बीच मे समझौता करने के आदी नही थे। अत्त उन्होंने कहा लोक मे सबसे उत्तम यदि कोई वस्तु है तो वह है केवली के द्वारा कहा गया धर्म—'केवलीपण्णत्तो धम्मोलोगोत्तमा।' ऐसे व्यक्ति के द्वारा कहा हुआ जो केवलज्ञानी है। अर्थात् जिसने आत्मा के स्वभाव को पूर्णतया जाना है, वही धर्म को कह सका है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसके द्वारा कहा हुआ धर्म न केवल वास्तविक होगा, अपितु सर्व-कल्याणकारी भी। क्योकि वह वीतरागता की स्थिति मे कहा गया है।

महावीर द्वारा कथित धर्म कल्याणकारी ही नही, बल्कि सर्वश्रेष्ठ मगल है—'धम्मो मंगलमुक्किट्ठम्'। यह मागलिकता किस अर्थ मे है, यह समझना होगा। धर्म का अर्थ है स्वयं को जानना। स्वभाव को जानने से जो परपदार्थ है वे अपनी तरफ आकृष्ट नही कर सकते। क्योकि उनकी मालकियत तभी तक चलती है, जब तक स्वय पर मालिकपना न हो। और यदि परपदार्थ का भेद समझ मे आ गया तो दुखो का आश्रव ही रुक गया। न किसी के प्रति आसक्ति और न आकाक्षा। अत धर्म इसलिए मगल है कि वह आनन्द का द्वार है। स्वतन्त्रता का द्वार है। परतन्त्रता के तिरोहित होते ही दुख विसर्जित हो जाते हैं।

ऐसे कल्याणकारी धर्म की अनुभूति का साधन क्या है, तो महावीर का समाधान है—"अहिसा सजमो तवो—'। अहिसा, सयम और तप स्वभाव को पहिचानने के साधन हैं। अनन्त आनन्द के झरने। अहिसा का अर्थ है निरहकारिता का बोध, नीवैषण का विसर्जन, अनाग्रही वृत्ति तथा इतने अनुपस्थित्त हो जाना कि किसी का कोई हित आप से बाधित न हो। सयम

का अर्थ है—निरन्तर श्रेष्ठतर की प्राप्ति की यात्रा। इससे जो निम्नतम है वह स्वमेव छूटता जायगा। तथा तप का अर्थ है तत्वज्ञान के भेद-विज्ञान की अनुभूति। आत्मा की ऊर्जा का पूर्ण उपयोग। इन तीनो की साधना व्यक्ति को महावीर के धर्म तक ले जाती है।

किन्तु महावीर के इस मागलिक धर्म के और भी सस्करण हैं। महावीर की विशेपता ही यह रही है कि वे हमेशा सामने वाले की सामर्थ्य को ध्यान मे रखकर वात करते थे। अत धर्म उन शक्तियो के विकास का भी नाम है जो पच महाव्रतो आदि से फलित होती हैं। इसे दश लक्षण वाला धर्म भी कह सकते हैं। वे दश धर्म हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एव उत्तम ब्रह्मचर्य। इनके विशेप लक्षण इस प्रकार हैं।

क्रोध आदि की चरम अवस्था मे शान्तप्रज्ञ वने रहने की चारित्रिक कला क्षमा है। क्षमा इस वात की द्योतक है कि आप क्रोध करने वाले की लाचारी का फायदा नही उठा रहे हैं। अपितु इसलिए क्षमा कर रहे हैं कि आपकी आत्मा का स्वभाव क्रोध करना नही है। क्षमा आपकी अभयता को प्रगट करता है। मार्दव का अर्थ है, ऐसे चित्त का विकास जो निरहकार हो। अत यह अहिंसा का ही विस्तार है। चित्त की करुणावान अवस्था मार्दव है। वाणी मे, कर्म मे एवं चित्त मे मृदुता का विकास मार्दव है।

आर्जव चित्त की सरलता को कहते हैं। औचौर्य की पूर्ण स्वीकृति। किसी प्रकार के दुहरे व्यक्तित्व का प्रयोग नही। जो अन्तस् मे वही वाहर प्रगट करना। निश्छलता और निष्कपटता आर्जव की फलश्रुति है। लोभ कपाय को जीतकर मन को पवित्र वनाना शौच-धर्म है। अनेक अशुचिताओ का नाम लोभ है। अत उसका परिहार पावनता का प्रवेश है। सत्य जव व्यक्तिगत होता है तव व्रत कहलाता है और जव उसकी अनुभूति मे आस-पास का वातावरण प्रभावित होने लगे तो वह धर्म वन जाता है। अत निर्दोप वास्तविक मनन, कथन और आचरण को सत्यधर्म कहा गया है। अप्रमादी होना संयमधर्म की अन्विती है। सयम का विस्तार श्रेष्ठतर विशुद्धता की प्राप्ति करना है। पूर्वसचित कर्मों के क्षय के लिए तप तेज आच का काम

करता है। तप का अर्थ है अन्तर की शक्तियो का बाह्य प्रकाशन।

धर्म की परिभाषा मे त्याग का अर्थ है, प्रयोजनहीन वस्तुओ का विसर्जन। जिन-जिन पदार्थों से परस्व का बोध होता जाय उन सबका त्याग स्वय को उजाले मे ला खडा करेगा, जहा आत्मबोध की सम्भावना सघन होगी। आकिन्चन्य का अर्थ है, स्वामित्व का विसर्जन। इससे क्रमश साधक निरापद होता चला जाता है। अन्तिम धर्म ब्रह्मचर्य इन सबकी फलश्रुति है। यहाँ आकर आत्मा को स्वय मे चर्या करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नही होता। स्वयं की अनुभूति को उपलब्ध होना ही धर्म की प्राप्ति है। इस प्रकार इस दशविध धर्म के द्वारा आत्मा के विभिन्न गुणो के विकास का मार्ग प्रशस्त किया गया है। श्रावक एव साधु दोनो इस धर्म मे उतर सकते हैं। इसकी विशेपता यह है कि इसमे कही कोई साम्प्रदायिकता नही, विशेषण नही। अत आत्मकल्याण के लिए यह लोकधर्म कहलाने का अधिकारी है। लोक-धर्म का अर्थ है—जन-जन का धर्म। प्राणीमात्र के विकास का धर्म।

○○

२६. वैज्ञानिक तपस्वी

'महावीर के जीवन का ध्येय जो था वह उन्होने प्राप्त कर लिया था। जिस माध्यम से वे आनन्द की उस अवस्था तक पहुचे थे उस मार्ग को वे प्रशस्त कर जाना चाहते थे। अत अपने जीवन की साधना व तपश्चर्या का उन्होने विशद विवेचन किया है। उनका यह अनुभव रहा है कि कर्मों का पूर्णतया क्षय तपश्चर्या के द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए उन्होने तप की उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन किया है, जिससे ध्यान के केन्द्र बदलते रहते है तथा आत्मा ऊर्जा से भर जाती है।

शास्त्रो मे तप के दो भेद मिलते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। महावीर ने इनको एक विशेष शब्दावली प्रदान की है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एव कायक्लेश ये बाह्य तप के छह भेद हैं। सब प्रकार के आहार का त्याग अनशन, अल्प आहार मात्र का ग्रहण करना अवमौदर्य या ऊनोदर, आहार-सम्बन्धी परिस्थितियो का नियन्त्रण करना वृत्ति-परिसख्यान, घृतादि वस्तुओ एव मिष्टादि वस्तुओ का नियमन करना रस-परित्याग, शून्य गृहादि एकान्त स्थान मे वास करना विविक्त शैयासान तथा धूप आदि की बाधाओ को सहना एव आसन विशेष से लम्बे समय तक ध्यान करना काय-क्लेश तप है।

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। आगम प्रणीत इनका अर्थ यह है। आलोचन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओ मे प्रवृत्त होना 'प्रायश्चित' है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की उपचार साधना मे लगना 'विनय'। आचार्य, उपाध्याय आदि योग्यजनो की पीडा-बाधाओ मे सेवा करना 'वैयावृत्य' है। धर्मशास्त्रो की वाचना आदि 'स्वाध्याय'। धन-धान्यादि एवं क्रोधादि कषायो का त्याग 'व्युत्सर्ग' है। तथा किसी वस्तु को माध्यम बनाकर आत्मा का ध्यान करना

'ध्यान' तप है ।

'भद्र ! तप के सम्बन्ध मे यह धारणा श्रमणधर्म के साधुओ व विचारको के बीच अभी भी प्रचलित है । किन्तु जैसा कि आपको मैंने बताया है कि महावीर की जीवन-यात्रा गहरे रहस्यो की शोध करने की रही है तथा परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तो को नये अर्थ देने की । अत इन बारह प्रकार के तपो द्वारा वे केवल उतना ही प्राप्त नही करना चाहते रहे होगे, जितना परम्परा मे प्रचलित है, बल्कि महावीर इन तपो के माध्यम से जीवन की उन ऊचाइयो को छूना चाहते थे, जिसके लिए पुन जन्म न लेना पडे । अत इन बारह तपो के अन्तरग मे उतरने के लिए भगवान महावीर की वैज्ञानिक दृष्टि को समझना होगा । यह भी देखना होगा कि श्रमणधर्म मे इतनी कष्टसाध्य साधना के प्रविष्ट होने का कारण क्या है ? शरीर को इतना सताकर तप करने की परम्परा कैसे पडी ? इन सब पर मैं जहा तक पहुच पाया हू, वह आपसे कहता हू ।'

महावीर ने तप का व्याख्यान जिस रूप मे किया था उसे बहुत कम लोग पकड पाये । क्योकि उनके अनुभव भिन्न थे । महावीर की तप के साथ शरीर को सताने की जो बात जुडी उसका कारण यह है कि व्यक्ति पहले शरीर को बहुत सुख मे रखता है । श्रृगार करता है, खिलाता-पिलाता है, इत्यादि । किन्तु अन्त मे जब उसके हाथ केवल दुख ही लगा तो यह विचार-धारा बनी होगी कि शरीर को सवारने से सुख नही मिला तो शरीर को कष्ट देने से अवश्य मिलेगा । अत तप कष्टदायी हो गया । इसी प्रकार वासनाओ के दमन का तप के साथ सम्बन्ध जुड गया है । इस कारण से तपश्चर्या जो साधक का स्वभाव बनना चाहिए, वह आदत बनकर रह गयी है । भगवान महावीर इस विषय मे बहुत सूक्ष्मदर्शी थे । उन्होने इस बात को स्पष्ट कहा है कि यदि हम तपस्या के द्वारा अपने को उससे जोडेंगे जो हमारा नही है तो ऐसी तपस्या हमे ससार चक्र से आगे नहीं ले जायेगी । और यदि हमने अपने को उससे जोडा जो हम हैं तो ऐसी तपस्या अमृत का द्वार है । उन्होने इसी तपस्या की उपलब्धि के लिए इन बारह सीढियो का विधान किया है ।

इन बारह तपो को एवं उनके लिए प्रयुक्त शब्दावली को थोडा विस्तार से समझें तो महावीर की दृष्टि अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

अनशन द्वारा शरीर को भोजन न देना मात्र अभिप्रेत नही है। बल्कि अनशन की क्रिया द्वारा आत्मा को पकडने की कोशिस करना है। शरीर की एक व्यवस्था है सामान्य भोजन करने की। अगर यह व्यवस्था बन्द कर दी जाय, तो अचानक शरीर रक्षण के लिए दूसरी व्यवस्था मे जाना होता है। एक से दूसरे मे जाने मे कुछ क्षण लगते हैं। यही क्षण आत्मा के होते हैं। इन्ही आत्मा के क्षणो को पकडना, उनमे जीना अनशन करने की सार्थकता है। जो साधक यह नही कर पाता वह अनशन करने का अभ्यास कर लेता है। उसकी आदत बन जाती है भूखे रहना। अतः वह कुछ उपलब्ध नही कर पाता।

महावीर ने अनशन को इसलिए तप कहा तथा तप के लिए चुना, क्योकि यह सबसे अधिक सुविधापूर्ण प्रयोग है दो अतियो के बीच ठहर जाने का। इसके द्वारा महावीर चाहते थे कि तपस्वी सुख-दुख, निद्रा-जागरण, प्रेम-घृणा आदि के बीच के क्षणो मे जीना सीख जाये। अनशन को महावीर ने इसलिए प्रथम रखा कि उनका चिन्तन है कि भोजन के लिए आतुर व्यक्ति काम-वासना से भरा होता है। भोजन की वासना छूटे तो आगे की बात हो सकती है। अत उन्होने अनशन तप द्वारा न केवल भोजन को बल्कि भोजन के चिन्तन से भी मुक्त होने को कहा है, तभी आत्मा को पकडा जा सकेगा। इसके प्रयोग के लिए महावीर ने स्वय अपना उदाहरण सामने रखा है। उनका जीवन सिखाता है कि अनशन का अर्थ है—अपने को प्रकृति पर छोड देना। जीवैषणा से मुक्ति की प्रक्रिया है यह।

अनशन की उपलब्धि है कि साधु मानसिक भूख, आदत की भूख की व्यवस्था को तोडता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि पेट की वास्तविक भूख क्या है। इस वास्तविक भूख, प्राकृतिक भूख को कम करना ऊनोदरी है, जो निश्चित रूप से अनशन की साधना के बाद ही सम्भव है। ऊनोदरी का अर्थ है कि जहा मन सर्वाधिक जोर मारे उसी सीमा से वापिस लौट आना। चाहे वह भूख का क्षेत्र हो अथवा अन्य इन्द्रियो का। इस प्रकार ऊनोदरी

द्वारा साधक अपनी शक्ति के अपव्यय को रोकता है। ऐसा कर पाना निश्चित रूप से तप है।

तीसरा वृत्तिसक्षेप नामक तप इससे आगे की यात्रा है। इसका अर्थ केवल इतना नही है कि अपनी इच्छा से कम वस्तुओ से काम चला लेना, दो वार भोजन चाहिए तो एक ही वार खा लेना। इस प्रकार के अर्थ साधु को अन्तरग मे नही ले जा पाते। महावीर इसके द्वारा कुछ और कहना चाहते है।

महावीर का कहना है कि प्रत्येक वृत्ति को उसके केन्द्र पर सक्षिप्त कर दो। एक वृत्ति का कार्य दूसरे केन्द्र से न लो तो अपने-आप वाहर की वहुत-सी क्रियाएं वन्द हो जायेंगी। क्योकि आपकी चेतना जिस केन्द्र पर होगी, उसी का कार्य वाहर होगा। उसके प्रति आप सजग भी रहेगे कि क्या हो रहा है। वृत्ति सक्षेप का यही अर्थ है साधु की तपस्या मे। प्रत्येक केन्द्र की आवश्यकता वहुत थोडी होती है, किन्तु उसमे जव बुद्धि और मन मिल जाता है तो आकाक्षा की होड लग जाती है। इसी आकाक्षा को रोकना तपस्वी का प्रतिपाद्य है, जो उसके मूल को पकडने पर ही रोका जा सकेगा। वस्तुओ की सीमा वाधने से वृत्ति-सक्षेप नही सधेगा। हा, वृत्ति-सक्षेप द्वारा स्वमेव वस्तुओ की आकाक्षा गिर जायेगी।

रस-परित्याग नामक इस चौथे व्रत द्वारा महावीर पूरी रस-प्रक्रिया को ही व्यक्त करना चाहते हैं। वे कहते है कि वस्तु, जिह्वा, मन एव मन के साथ चेतना के तादात्म्य इनमे से रस किसमे होता है, इसकी पहिचान जरूरी है। अनेक अनुभवो से यह ज्ञात होता है कि यदि चेतना का सम्वन्ध मन से न हो तो वस्तु, जिह्वा और मन के होते भी किसी वस्तु मे रस नही आता। अत चेतना का मन के साथ सहयोग ही रसास्वादन मे कारण है। अत तपस्वी की चौथी साधना यह है कि वह चेतना और मन के सम्बन्ध को समझे। यह प्रयत्न करे कि वह चेतना और मन के क्षणिक अलगाव को भी देख सके। मन की आज्ञा मानना जिस दिन उसकी चेतना बन्द कर देगी उसी दिन वह सभी रसो से ऊपर हो जायेगा। अत मन और चेतना के सम्बन्ध को तोडने का जो वोध है उसे प्रगाढ करने का नाम ही रस-परित्याग

है। सभी वस्तुओ के होने पर भी मन की खबर मे चेतना को पृथक् रखना ही रसबोध से मुक्ति है। अत रस परित्याग की साधना है—प्रत्येक कार्य के प्रति चेतना का साक्षीभाव।

'काय-क्लेश' द्वारा महावीर ने बहुत गहरी बात कही है। एक सत्य का उद्घाटन किया है। तप प्रारम्भ करने के पूर्व उन्होने जो चेतना और शरीर के द्वन्द्व को तोडने की बात कही थी, उसकी पुष्टि अन्य तपो से वे कर रहे हैं। इस तप द्वारा वे कह रहे हैं कि काया क्लेश है। शरीर ही दुख है, इस बात को साधक अच्छी तरह समझ जाय। क्योकि जब वह चेतना के भिन्न होने की बात सोचेगा तो शरीर से अनेक दुख बिखरने प्रारम्भ हो जायेंगे। उन दुखो को देखकर साधु घबडाये नही, अपितु इसे अनिवार्य मान ले कि शरीर से दुख ही होगे तो वह साधना मे आगे बढ सकेगा। इससे शारीरिक सुखो की आकाक्षा का त्याग अपने आप होने लगेगा। यह पता ही न चले कि शरीर दुख के सिवा और भी कुछ है, चिंतन की इस अवस्था की प्राप्ति इस तप का उद्देश्य है।

बाह्य तपो का अन्तिम सूत्र है—'विविक्तशय्यासन'। अर्थात् एकान्तवास या सलीनता। यह एक ऐसा तप है, जो बाहर से भीतर की यात्रा करने मे सेतु का काम करता है। इसका आशय गहराई से जानने योग्य है। सामान्यतया इस तप मे साधक अपने शरीर के बाह्य हलन-चलन को रोकने का अभ्यास करता है। ऐसा योग साध लेता है कि बाहर का प्रत्येक अंग निश्चल हो जाता है। किन्तु इतने मात्र से यह तप पूरा नही होता है। महावीर कहते हैं कि तप करना पूर्णरूपेण ईमानदार बनना है। जो भीतर है, वही बाहर प्रगट हो तभी तप का आनन्द है। अत इस सल्लीनता तप द्वारा न केवल बाहर का हलन-चलन रुके, अपितु साधक को भीतर भी शान्त होना चाहिए।

सल्लीनता मे उतरने के लिए महावीर ने कुछ सूत्र दिए हैं। वे कहते हैं कि सर्वप्रथम अपने शरीर की विभिन्न भगिमाओ का सम्यक् निरीक्षण होना आवश्यक है। इससे पता चलेगा कि क्रोध, प्रेम एव तनाव की स्थितियो मे, चित्त कितने रूप ग्रहण करता है। जहा साधक ने क्रोध के चित्त का अध्ययन करना प्रारम्भ किया वही से क्रोध से सम्बन्ध टूटने लगेगा। शान्ति की शक्ति

वढ़ने लगेगी ।

दूसरा प्रयोग संल्लीनता के साथ यह है कि साधक सद् एव असद् दोनो वृत्तियो मे एक साथ अपने मन को दौडा दे और स्वय द्रष्टा वन जाय। इससे बडा फायदा होगा। मन पर जब एक वृत्ति हावी होती है तो चेतना उसमे दव जाती है। मन जो चाहे सो करा लेता है। किन्तु जब विपरीत वृत्तियो मे मन फस जाय तो चेतना स्वतन्त्र हो जाती है। वही उसकी सल्लीनता है। इसी सल्लीनता की स्थिति मे ही आत्मा से साक्षात्कार सम्भव है। चित्त की ऐसी दशा इस समय हो जाती है कि शरीर पर इसका कोई प्रभाव नही दिखता, कोई हलन-चलन नही। भद्र! श्रीकण्ठ! तुम सबने महावीर अथवा किसी तीर्थङ्कर की मूर्ति देखी होगी। तुम पाओगे कि उनकी प्रतिमा मे कोई रग-पुट्ट आदि नही वनाये गये हैं। हाथ-पैर की मास-पेशिया एकदम सपाट हैं। इस सबका मात्र इतना कारण है ये प्रतिमाए तीर्थङ्करो की संल्लीनता की है। जव उनके बाहर-भीतर एकदम शान्ति थी। पूर्ण स्थिरता। इस स्थिरता की स्थिति को प्राप्त करने से ही अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो सकती है। आभ्यन्तर तप किए जा सकते हैं।

'भद्र चित्रागत! बहुत दिनो से मैं गुहा के भीतर नही गया। सब कुछ सुरक्षित है न वहा?'

'आचार्यप्रवर! सबकुछ सुरक्षित और स्थायी भी। आप चिन्ता न करें गुरुदेव! आपकी शिष्य परम्परा सजग ही नही, सर्जनात्मक भी है। किन्तु यह पहली वार पता चला कि हम ऐसे आचार्य के अन्तेवासी हैं, जो न केवल दर्शन के व्याख्याता हैं, अपितु दर्शन और ज्ञान के धारी भी। आचार्य चारित्र को भी प्रगट होने दें। चलने दें कथा।'

'आयुष्मान्, तुम्हारी अव सुनने की मन स्थिति नही रही। अपनी व अपने गुरु की श्लाघा आत्मबोध तक नही ले जाती। मुझे अव विराम दें। अभ्यन्तर तपो की चर्चा प्रात काल करूगा।'

क्षणभर वाद मे शिल्पीसघ विखर गया। अनुशासन, विनय का साक्षात् प्रतीक।

'इस मगल प्रभात वेला मे तपस्वी महावीर को प्रणाम। कल हम वारह

तपो पर चर्चा कर रहे थे। अभ्यन्तर तप का प्रथम सूत्र है—'प्रायश्चित'। सामान्यतया इसका अर्थ किया जाता है कि अपने द्वारा प्रमादवश की गयी भूलो की क्षमायाचना। भूलो के प्रति पश्चाताप। किन्तु महावीर को इसमे कही तपश्चर्या नही दिखती। वे कहते है कि प्रत्येक शब्द के सही अर्थ को पकडो। प्रायश्चित और पश्चाताप मे वहुत अन्तर है। पश्चाताप व्यक्ति को उसके द्वारा की गयी भूलो के प्रति होता है, जवकि प्रायश्चित व्यक्ति को स्वय गलत होने के कारण होता है। पश्चाताप करने वाला अपनी भूल सुधार सकता है, किन्तु व्यक्ति वह वही वना रहेगा। जवकि प्रायश्चित जिसे होता है वह व्यक्ति ही वदल जाता है। इसलिए महावीर का अनुभव रहा है कि जो व्यक्ति अपनी भूलो के लिए क्षमा मागता है वह दूसरे अर्थों मे अपने अहकार की रक्षा करता है। अत उससे पुन. वही भूल होने की सम्भावना है। प्रायश्चित मे ऐसा नही होता। प्रायश्चित का अर्थ है पूरे व्यक्ति का परिवर्तन। भूल करने वाला व्यक्ति ही विसर्जित हो गया इसमे। अत प्रायश्चित जागरण का सकल्प है। गलत आदमी ही चला गया तो अव गलत कार्य ही कहा से होंगे। अत प्रायश्चित द्वारा महावीर ने अभ्यन्तर तप मे सही आदमी को ही प्रवेश होने का अधिकार दिया है। अभ्यन्तर तप मे जाने की पहली शर्त है आदमी की वदलाहट।

प्रायश्चित और पश्चाताप मे एक अन्तर और है। प्रायश्चित व्यक्तिगत मामला है। वह स्वय के समक्ष हो सकता है। आपको अनुभव हुआ कि आप गलत हैं, बस उसी समय से आप वदलना प्रारम्भ कर देंगे। जवकि पश्चाताप दूसरे पर निर्भर है कि वह क्षमा करे न करे। अतः पश्चाताप परमात्मा के समक्ष ही हो सकता है। यहा व्यक्ति परतन्त्र हो जाता है। महावीर की साधना व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास की रही है। अत उन्होने प्रायश्चित को प्रथम अभ्यन्तर तप स्वीकार किया। इससे साधक तथ्यो को पूर्णरूप से स्वीकार करना सीखता है, उनसे भागना या किसी और पर थोपना नही। वास्तव मे पश्चाताप के कारण ही ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार हुआ। क्योकि वही अन्तिम क्षमा देने वाला है। महावीर को इसकी आवश्यकता नही पडी। क्योकि प्रायश्चित द्वारा वह व्यक्ति स्वय क्षमाशील हो सकता है।

'विनय' अभ्यन्तर तप की दूसरी सीढी है। यह प्रायश्चित का अगला चरण है। जो व्यक्ति अपनी गलती स्वय स्वीकार कर ले वही दूसरो को विनय दे सकता है। सामान्यरूप से अपने से योग्य लोगो को आदर आदि देना विनय माना गया है। किन्तु साधु का इसमे तप कौन-सा है? श्रेष्ठजनो को विनय देना तो उसकी विवशता है। इसमे उसकी साधना कहा रही। बल्कि इससे एक दिक्कत और यह हुई कि जो बडो को विनय देगा वह छोटो से विनय लेने का इन्तजाम भी करेगा। अत वह तो गृहस्थ से भी कम हो गया।

महावीर ने विनय का विधान विशेष प्रयोजन से किया है। वे चाहते हैं कि श्रेष्ठ और निम्न का जो भेद है वह मिटना चाहिए। भेद रहने से दो नुकसान है। जिसे आप श्रेष्ठ कहते है, उसके अहकार को बढाते हैं विनय देकर। उसी प्रकार आप जब विनय स्वीकार करते हैं तो आपका अहकार बढता है। इसलिए इन दोनो अहकारो से बचना साधु के लिए आवश्यक है। साधु की विनय तो वह है, जब उसे कही निकृष्टता दिखाई न दे। अत विनय बिना शर्त के ही हो सकती है। क्योकि किसी की श्रेष्ठता का कोई मापदण्ड नही है। अत ,इस विनय नामक तप द्वारा महावीर ने निरन्तर श्रेष्ठतर होते रहने की प्रेरणा दी है। विनय को बेशर्त मानकर महावीर ने यह कहना चाहा है कि साधक अब यह विचारे कि मैंने अपने को सबसे तोड लिया है। मैं जितना स्वतन्त्र हू, उतना ही अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी भी। विनय से यही फलित होगा। जैसे-जैसे भीतर जाने की यात्रा होती जायेगी साधक का बाह्य जगत् से सम्बन्ध टूटता जायेगा। प्रायश्चित मे वह स्वय अपना निर्णायक बना तथा विनय द्वारा उसने अपने अहकार को विसर्जित किया है।

तीसरा अभ्यन्तर तप है—'वैयावृत्य' इसका अर्थ वृद्ध साधुजनो आदि की सेवा करना माना गया है। किन्तु साधक के लिए इसका गहरा अर्थ है। उसकी सेवा किसी प्रयोजनवश नही होती। वह भविष्य मे पुण्यो का सचय करने के लिए सेवा नही करता। अपितु जिनकी सेवा कर रहा है, उनसे उऋण हो रहा है। अत जिस सेवा मे सेवक बीच मे न आये वह वैयावृत्त है। तप मे ऐसी सेवा ही सम्मिलित होगी, जो किसी के लिए हो जाय और करने वाले का पता ही न चले। महावीर ने वैयावृत्य को इसीलिए तप कहा है कि साधु

इतना वडा कार्य करे और उमका कर्ता न वने, यह वहुत कठिन है। आन्तरित तप यह इसलिए है कि इसका किया जाना केवल आपको ही पता है।

'स्वाध्याय' द्वारा महावीर ने जीवन के सत्य को उद्घाटित किया है। हम जगत् के अन्य पदार्थों के सम्वन्ध मे वडी सूक्ष्मता से अध्ययन करते और जानते हैं। किन्तु जो जानने वाला है उसे कभी पहिचानने का प्रयत्न नहीं करते। वस्तुत जानने मे दो ही वस्तु महत्त्वपूर्ण होती हैं—ज्ञेय और ज्ञाता। इनमे से ज्ञेय को जानना विज्ञान है और ज्ञाता को जानना धर्म है। मात्र ज्ञेय को ही जानते रहने से सत्य पकड मे नही आयेगा। अत महावीर ने ऐसे ज्ञानी को मिथ्याज्ञानी कहा है। अर्थात् निस्प्रयोजन पदार्थों को जानने वाला। ज्ञाता को जानने वाला ही सम्यग्ज्ञानी होगा। अत अपनी अनुपस्थिति को तोडने का नाम स्वाध्याय है। और जव आप उपस्थित हो तो आपके परिवेश मे कुछ गलत नही घट सकता। इसीलिए महावीर जव स्वाध्याय मे होते थे तो उनके सम्पर्क मे आने वाले दुष्ट जीव भी शान्त हो जाते थे। क्योकि महावीर की उपस्थिति मे कुछ गलत नही हो सकता था। महावीर जो वार-वार कहते हैं कि जागते हुए जिओ, उसका आशय यही है कि स्वाध्याय मे जिओ। अत महावीर ने साधक से यह नहीं कहा कि तुम सही करो। यह कहा कि जागते हुए करो। गलत कर ही नही सकते।

महावीर ने तपो की व्याख्या करते हुए दश तपो के वाद 'ध्यान' तप का क्रम रखा है। अत जव व्यक्ति इतने तपो मे जीने लगे, उसकी आत्मा इतनी जानी-पहचानी हो जाए तव उसे ध्यान करना कठिन नही होगा। किन्तु ध्यान को समझना और समझाना वडा कठिन है। इसलिए महावीर पहले गलत ध्यानो की व्याख्या करते है, जिससे साधक उन्ही मे फँसकर न रह जाय। असली ध्यान तक उसे पहुचना है।

शास्त्रो मे ध्यान के चार भेद कहे गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। अनिष्ट के सयोग, इष्ट के वियोग, दु ख की वेदना तथा भोगो की अभिलाषा से जो सक्लेश भाव होते हैं उन्हें वदलने के लिए जो चितन किया जाता है वह सव आर्त ध्यान है। अनिष्ट कार्यों की प्राप्ति तथा जीवो के घात-प्रतिघात से सम्वन्वित ध्यान को रौद्र ध्यान कहते हैं। इनसे व्यक्ति तो

दु खी होता ही है, उनके प्रभाव से समाज भी अशात होता है। अत महावीर ने इन ध्यानो को अशुभ और त्याज्य कहा है।

महावीर ने ध्यान के माध्यम से स्व एव पर की सुन्दर व्याख्या की है। उनका कहना है कि जब तक हम अपने से बाहर किसी पर ध्यान लगाते रहेगे। हम ध्यान के वास्तविक अर्थ को नही पा सकेंगे। क्योकि बाहर किसी भी वस्तु पर चित्त को लगाना ध्यान नही, प्रार्थना है। इसीलिए जिन्होने अपने से भिन्न परमात्मा को माना वे ध्यान मे नही जा सके। उन्होने प्रार्थना को विकसित किया। ध्यान और प्रार्थना दो अलग-अलग बाते है। ध्यान मे कोई निवेदन नही है, स्व की पहिचान है, जबकि प्रार्थना मे दूसरे की सहायता की माग है। अत ध्यान की प्राप्ति के लिए ही महावीर ने ईश्वर के अस्तित्व की चिंता नही की।

ध्यान के स्वरूप के सम्बन्ध मे तथा उसकी प्रक्रिया के विषय मे महावीर बहुत स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि ध्यान का अर्थ है—जो मैं हू, जैसा मैं हू उसी मे ठहर जाना। ध्यान शब्द से यह सोचना पडता है कि किसका ध्यान? अत महावीर ने ध्यान शब्द का बहुत कम प्रयोग किया है। इसके लिए उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण शब्द चुने हैं—प्रतिक्रमण और सामायिक। प्रतिक्रमण का अर्थ है—अपनी चेतना को बाह्य जगत् से वापिस बुला लेना और सामायिक का अर्थ है—उस लौटी हुई चेतना मे रम जाना। महावीर ने इस स्थिति के लिए बहुत सुन्दर शब्द का प्रयोग किया है—'आत्मरमण'। आत्मा मे रमना ही महावीर का ध्यान है।

जगत् के अन्य विज्ञानो से भी यह प्रमाणित होता है कि चेतना की गति समय मे होती है। अत महावीर ने आत्मा को समय कहा और आत्मा की गति मे ठहर जाना 'सामायिक' कहलाया। महावीर ने इसे स्पष्टतया समझाते हुए कहा है कि शरीर की समस्त गतियो का ठहर जाना आसान है और चित्त की सारी गति का ठहर जाना ध्यान। चेतना की गति मे ठहर जाने की प्रक्रिया क्या है। इसे महावीर ने धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा समझाया है। ये ध्यान की उत्कृष्ट अवस्थाएँ है, जिनकी फलश्रुति आत्म-साक्षात्कार होती है।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया का विसर्जन। ध्यान जब परिपूर्ण शिखर पर पहुच जाता है तो काया खो जाती है। ऐसी आत्मानुभवी चेतना का काया से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अर्थात् यह वह स्थिति है जिसमे शरीर का अन्तिम बार उत्सर्ग हो जाता है। आत्मा अशरीर हो जाती है। अब कभी शरीर धारण नही करेगी। यद्यपि आयु पूर्ण होने तक यह अन्तिम शरीर उस चेतना के साथ रहता है। जैसे स्वय महावीर ध्यान के शिखर को पहुचने के बाद भी तीस वर्ष तक शरीर धारण किए हुए भ्रमण करते रहे। किंतु अब उनके लिए शरीर का कोई अर्थ नहीं रह गया था।

कायोत्सर्ग मृत्यु के लिए सहज स्वीकृति का भाव है। साधक को यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके शरीर के साथ अब अन्तिम बार क्या घटने वाला है। उस घटना को घटित देखते रहना ही ध्यान की उपलब्धि है। ऐसी अवस्था, जहा से वापिसी की अब कोई सम्भावना नहीं है। जहा केवल ज्ञान रह जाता है, काया नही। अत. कायोत्सर्ग विस्फोट है। आत्मा और शरीर के सर्वथा और सर्वदा के लिए अलग होने का। महावीर यह नहीं कहते कि तुम अपनी काया का उत्सर्ग कर दो। क्योकि इस स्थिति मे काया अपनी रह ही नही पाती। अत. द्रष्टा के रूप मे उसके साथ क्या होता है इसे देखते रहना कायोत्सर्ग है। यही अमरत्व की प्राप्ति है, मोक्ष की सुखानुभूति।

• •

३०. प्रशान्त ऊर्ध्वगामी

'इन बारह तपों की साधना द्वारा भगवान महावीर मुक्ति को प्राप्त हुए। पूर्वजन्मो मे उनकी चेतना निरन्तर ऊपर को उठती जा रही थी। इस जन्म मे उसने केवलज्ञान की प्राप्ति द्वारा निर्मलता के सबसे ऊँचे 'शिखर को छू लिया था। पूर्णरूप से उनकी चेतना अमूर्च्छा की स्थिति मे आ गयी थी। जागृत हो गयी थी। अशुभ, शुभ की यात्रा करते हुए उसने शुद्धता का बाना पहन लिया था।

इस प्रकार जीव, अजीव से लेकर मोक्ष तत्त्व की यात्रा की व्याख्या मैंने की, जिसमे महावीर का तत्त्वज्ञान, कर्म-सिद्धान्त, आचार-मीमासा, तप-ध्यान आदि सभी सम्मिलित हैं। इस पूरी यात्रा को, श्रमणधर्म के सात तत्त्वो को एक सुन्दर रूपक द्वारा समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए कोई एक व्यक्ति नाव द्वारा नदी पार कर रहा है। थोडी दूर जाने पर उस नाव मे कोई एक छेद निकल आता है। उससे नाव मे पानी भरने लगता है। जब पानी कुछ अधिक हुआ तो नाव डगमगाने लगी। वह व्यक्ति भयभीत होकर नाव से चिपक गया। किन्तु तभी उसे दिखा कि नाव मे पानी एक छेद द्वारा आ रहा है। उसने तुरन्त कपडे व मिट्टी द्वारा उस छेद को इतना बन्द कर दिया कि अब पानी आना रुक गया। लेकिन पूर्वसचित पानी द्वारा ही वह नाव अभी भारी है। भवर मे फँसने के लिए आतुर है। अत अब उस व्यक्ति ने धीरे-धीरे हाथो से उस पानी को उलीचना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय बाद नाव हलकी हो गयी। उसके सहारे वह नदी से पार हो गया।

इस दृष्टान्त मे महावीर द्वारा कथित सात तत्त्वो की व्याख्या छिपी हुई है। नाव और व्यक्ति शरीर और आत्मा हैं। नदी पार करना, ससार से पार होना है। छेद से पानी आना आश्रव है कर्मों का और पानी से नाव भर जाना कर्मों का बन्ध है। नाव का डगमगाना कर्मों के दुख हैं। छेद का पता लगाकर

उसे बन्द कर देना संवर है तथा पानी बाहर निकाल देना कर्मों की निर्जरा है। नाव का हल्के होने के कारण पार उतर जाना आत्मा की कर्मों से विमुक्ति है। महावीर इसी प्रकार प्रशान्त होकर ऊर्ध्वगमन कर गये थे।

महावीर की मोक्ष, निर्वाण की धारणा को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त और आपको सुनाता हू। एक सरोवर जल और कीचड से भरा हुआ है। उसमे अनेक श्वेतकमल विकसित है। सबके बीच मे खिला है एक विशाल एवं अतिशय श्वेत पुण्डरीक। उस तालाब मे पूर्व दिशा से एक पुरुष आता है। उस पुण्डरीक को देखकर उसे प्राप्त करना चाहता है। किन्तु जैसे ही उसे लेने के लिए सरोवर मे प्रवेश करता है, कुछ दूर जाकर वहा के कीचड मे फँस जाता है। वापिस लौटना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार अन्य तीन दिशाओ से आने वाले व्यक्तियो की भी होती है। अन्त मे एक वीतरागी और ससार सतरण की कला का विशेषज्ञ भिक्षु वहा आता है। वह कमल एवं उन फंसे हुए व्यक्तियो की दशा को देखकर स्थिति को हृदयगम कर लेता है। अत वह किनारे पर खडा होकर ही आवाज देता है—'हे पुण्डरीक, उडकर यहा आ जा।' पुण्डरीक उसके पास आ जाता है।

इस दृष्टान्त मे इन प्रतीको का प्रयोग हुआ है—यह मनुष्यलोक वह सरोवर है। उसका जल जीवो का शुभाशुभ कर्म है। कामभोग है कीचड। मनुष्य समुदाय उसके अन्य कमल है तथा पुण्डरीक है—चक्रवर्ती राजा। चार दिशाओ से आये हुए पुरुष हैं चार मतो के प्रतिपादक विचारक, जिनको अपनी सामर्थ्य एव ससार की वस्तुस्थिति का पता नही है। वह अतिशय प्रज्ञा का धनी पुरुष है साधु। सरोवर का किनारा है—धर्मतीर्थ। भिक्षु की आवाज धर्मकथा है तथा पुण्डरीक का उस दलदल भरे सरोवर से उड जाना है, निर्वाण की प्राप्ति।

इस प्रकार महावीर का निर्वाण पाना, चेतना के दर्शन और ज्ञानगुण का ऊपर उठ जाना है केवलज्ञान के बाद वे जनकल्याण के लिए नगर-नगर एव ग्राम-ग्राम घूमते रहे कि जो उन्होने उपलब्ध किया है, उससे दूसरे प्राणी भी लाभान्वित हो।

'आचार्यप्रवर! यह अनुभूति तो होती है कि महावीर ने मुक्ति प्राप्त की

होगी । किन्तु उस मोक्ष अथवा निर्वाण का स्वरूप क्या है ? तथा क्या मुक्ति के वाद कारणवश वापिस लौटना सम्भव है ? इनको जानने की जिज्ञासा है ।'

'भद्र चित्रागद ! महावीर क्या, प्रत्येक महापुरुष के साथ यही होता है कि हम बिना महावीर वने महावीर की प्रत्येक अनुभूति को जानना चाहते हैं। और जब नही जान पाते तो घोपणा कर देते हैं कि मुक्ति का मार्ग कठिन है अथवा अमुक महापुरुष की वाणी दुरूह है इत्यादि । अत. पहले हमे इन स्थितियो मे उतरने का प्रयत्न करना चाहिए, जहाँ से कम से कम तत्वज्ञान के सम्वन्ध मे प्रश्न तो कर सकें, जानना तो दूर । मोक्ष अथवा निर्वाण इस प्रकार की स्थिति है, जिसका ज्ञान स्वानुभूति से ही हो सकता है । किन्तु तीर्थङ्कर महावीर ने इसे भी व्यक्तिगत नही रखा । वे प्रत्येक रहस्य को चौराहे पर खडा करने आये थे । अत उन्होने अपनी प्रत्येक अनुभूति को प्रगट किया । लेकिन उसे वे ही समझ पाये या समझ पायेंगे जो कम से कम श्रावक तो हो ।

निर्वाण के आनन्द को छोटे रूप मे जाना जा सकता है । मोक्ष उस स्थिति का नाम है, जहा सारे वन्धन एव असद्वृत्तिया तिरोहित हो जाती हैं । एक उदाहरण लें । हम क्रोध करते है । उसके कई कारण हो सकते है । किन्तु जब हम जान जाते हैं कि क्रोध करना आत्मा के स्वभाव के प्रतिकूल है तो हम उससे लौटने लगते हैं । जब पूर्ण रूप से क्रोध चला जाता है तो एक अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है । किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि हम क्रोध एवं शान्ति इन दोनो के अनुभवो से परिचित हो । जव इन अनुभवो मे आपको अन्तर दिखने लगेगा आप देखेंगे कि शान्ति आपके लिए कितनी कीमती हो जाती है ।

यह एक असद्वृत्ति से मुक्त होने का आनन्द है । इसी प्रकार साधु जव सभी आसक्तियो और द्वन्द्वो से मुक्त हो जाता है तो उसका आनन्द उसी अनुपात मे वडा हो जाता है । यही मोक्ष की अनुभूति है । कुछ दिन आप कारागृह मे रहकर देखें । जिस दिन आप वहा से मुक्त हो उस दिन का भी आनन्द देखें तो आपको मुक्ति के आनन्द का अनुमान होने लगेगा । अत वधन से मुक्ति की ओर जो यात्रा है, वह अचेतन से चेतन की ओर यात्रा है । चेतनता की पूर्ण उपलब्धि ही मोक्ष है ।

मुक्त होकर जहा तक लौटने का प्रश्न है वह सम्भव नही है। कोई आत्मा स्वभाव मे आकर फिर कर्म बन्धन नही करती। किन्तु कुछ आत्माए चाहे तो मुक्ति के बाद भी एक जीवन के लिए लौट सकती हैं। किन्तु यह लौटना भिन्न प्रकार का है। यह उनकी शक्ति की ऊर्जा का विस्फोट है। उन्होने अपनी साधना मे इतनी शक्ति सचित की है कि मुक्ति के बाद भी उसका व्यय होता रहता है। अत वह ससार मे कुछ भोगने नही, बल्कि जो अतिरिक्त उपलब्ध कर लिया है उसे बाटने आता है। ऐसी आत्मा तीर्थङ्कर होती है। अत यह भी कह सकते हैं कि तीर्थङ्कर ही मुक्ति के बाद लौटते हैं। वह भी जनकल्याण के लिए। यह कहने कि वे मुक्ति का आनन्द जान गये हैं। अत उनका ससार मे आना चक्र मे फसना नही है। क्योकि चक्र से छलाग लगाकर ही उन्होने मुक्ति पायी है। इस प्रकार की आत्माए अपने जीवन मे तो कल्याण करती ही हैं, किन्तु कुछ ऐसा भी छोड जाती हैं, जिससे उनकी उपलब्धि से निरन्तर प्रेरणा मिलती रहती है। महावीर ऐसी ही आत्मा थे। आज भी उनके सानिध्य से प्रभावित हुआ जा सकता है।

'कलाकार बन्धुओ, महावीर के परिनिर्वाण की कथा के बाद उनकी शिष्य-परम्परा एव उनके आत्मबोधक उपदेशो की बात मैंने अभी तक आपके समक्ष कही। जितना मैंने कहा उतना ही उनका जीवन था या उतनी ही उनकी देशना थी, ऐसा मत समझना। वह तो एक विराट व्यक्तित्व था, जिसमे से मैंने कुछ किरणो को पकडने की कोशिस की है, जिनका आधार परम्परा एव मेरी अपनी चेतना की जागृति रही है। उस व्यक्तित्व के अन्य आयाम भी उद्घाटित हो सकते हैं। क्योकि उसका अस्तित्व ही अनेक धर्मा था। अनेकान्त की पूर्ण शिक्षा के लिए स्वय महावीर के जीवन को समझ लेना ही पर्याप्त है। आप सबने जितना जागृति के क्षणो मे ग्रहण किया हो महावीर के जीवन को, उनकी देशना को उससे अपनी कला को सार्थक करना। यद्यपि उनकी अनुकृति करना चाहे जीवन मे हो अथवा कला मे सम्भव नही है। क्योकि वे अप्रतिम थे। कोई तुलना नही उनकी चेतना की। फिर भी दीप से दीप जलता है। अत. उनकी आत्मा से, उनके जीवन से प्राणियो की चेतनाए प्रज्वलित हो सकें ऐसा कुछ तुम सब अपनी कला द्वारा अवश्य करना। अब मुझे आखिरी विराम

लेने की आज्ञा दें।'

'आचार्यप्रवर! हमारी भी यह आखिरी जिज्ञासा और विनम्र प्रार्थना है कि जिस प्रकार आपने अतीत से साक्षात्कार कर महावीर के जीवन व उनके दर्शन को विविध आयामो मे उद्घाटित किया, उसी प्रकार आपको भविष्य की स्थितियो से भी परिचित होना कठिन नही है। गुरुदेव! आगामी एक हजार वर्षों मे, ईसा की उन्नीसवी-बीसवी शताब्दी तक जगत् की क्या परिस्थितियाँ होगी एव क्या होगी महावीर की देशना की व्याख्या, उपयोगिता? मेरा मन जानना चाहता है आचार्य! इसके समाधान के बाद आप विराम लें तो जगत् का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। हमारी कला को अमरत्व मिल जायगा।'

प्रश्न की गुरुता एव उपयोगिता का अनुमान कर समस्त शिल्पी-संघ चिंतित हो उठा। यह क्या पूछ लिया देवी कनकप्रभा ने? परीक्षा ले रही है क्या आचार्यप्रवर की? किन्तु जैसे ही उन्होने आचार्य के मुखमण्डल की ओर देखा वे सब आश्वस्त हुए। वहा वही सौम्यता थी, वही शान्तभाव जो कथा प्रारम्भ करने के पूर्व थी। क्षणभर बाद आचार्य बोल ही पडे—

'आयुष्मति कनकप्रभा! तुम्हारी चेतना इतनी करुणा पर उतर आयेगी, मुझे अनुमान नही था। मैं भविष्य के सम्बन्ध मे क्या कह सकता हूँ, अभी कह पाना कठिन है। फिर भी तुम्हारी जिज्ञासा अतृप्त न लौटे इसका मैं प्रयत्न करूगा। कुछ दिन मुझे चिन्तन को बटोरने का अवकाश दें। तब तक आप सब भी शान्त हो लें। फिर मैं इस सम्बन्ध मे अवश्य कुछ कहूगा। मैं क्या कहूँगा, तीर्थङ्कर महावीर की चेतना ही प्रकाशित होगी। वही समर्थ है—अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने मे।'

शिल्पीसघ एक अपूर्व उत्साह और आशा की किरणें लिये वहा से विसर्जित हो गया। रह गये आचार्य कश्यप। आत्मा के गुणो के दृष्टा, ज्ञाता। भविष्य की स्थितियो को सजोते हुए।

३१. अनागत

आयुष्मति कनकप्रभा की अन्तिम जिज्ञासा को जन्म लिए आज तेरहवा दिन था। आचार्य कश्यप इतने दिनो मे निरन्तर आगामी शताब्दियो के प्रथम दशक मे होने वाली प्रमुख घटनाओ, परिवर्तनो एव मानवीय प्रवृत्तियो की जानकारी को सजोते रहे हैं। व्यक्ति के वर्तमान रूप को देखकर जैसे उसके अतीत एव अनागत मे प्रवेश किया जा सकता है उसी प्रकार आचार्य ने स्वय समय के अनागत को पकडने का प्रयत्न किया है। जव कुछ कहने लायक उनके पास हो गया तो उन्होने आज शिल्पीसघ को पुन एकत्र होने का आदेश दे दिया है।

शिल्पीसघ के साथ देवी कनकप्रभा अपने प्रश्न के समाधान के प्रति इतनी उतावली थी, उत्कण्ठित कि वह समय से पूर्व ही उस स्थान पर आ वैठी है जहा आज आचार्य को कथा का समापन करना है। अपरान्ह का समय है। फिर भी धूप अच्छी लग रही है। अत कलाकार मैदान मे ही वैठ गए हैं। आचार्य के आने की प्रतीक्षा है, जिन्हे चित्रागद वुलाने गया है। कुछ क्षणो वाद आचार्य ने आते ही कहना प्रारम्भ कर दिया—

'भद्र! समय के इस अन्तराल के उपरान्त आप सव प्रसन्नता से भरे नजर आ रहे हैं। महावीर की कथा ही ऐसी है जो पूर्णता की ओर ही ले जाती है। आप इस क्षेत्र मे और आगे वढ़ें यही आकाक्षा है एक कुलपति की। विसर्जित होती हुई पीढी की।'

'आयुष्मति कनकप्रभा की जिज्ञासा से आप सव परिचित ही है। उसी परिप्रेक्ष्य मे मैं कुछ कहूगा। आगामी एक हजार वर्षों का समय सघर्ष और तनाव की स्थिति से गुजरेगा। गुप्तकाल मे भारतीय सस्कृति का इतना विकास हो चुका है कि अव उसे पुन अवनत होने मे पर्याप्त समय लग जावेगा। यह काल सस्कृति की अवनति का ही होगा। हम सधिकाल मे खड़े

हैं । आप परिचित हैं कि इस्लाम का प्रवेश हमारे देश मे प्रारम्भ हो गया है । अभी इस्लामी व्यापारी आये है । धीरे-धीरे शासको का ताता लग जायेगा । यह दो संस्कृतियो का मिलन प्रत्येक क्षेत्र मे तनाव उपस्थित करेगा । अत. देश की शक्ति विभाजित हो जायेगी । लोग टुकडो मे जियेंगे । ऐसी स्थिति मे उत्तर भारत मे श्रमणधर्म के विकास की सम्भावनाए कम हैं । दक्षिण भारत मे इसके अनुयायी वढेंगे ।

ईसा की बारहवी-तेरहवी शताब्दी तक आध्यात्म बहुत सकुचित हो जायेगा । उसमे जो परिश्रम एव पुरुषार्थ का मार्ग है वह सूखने लगेगा । क्योंकि समाज इन बाह्य-शासको से इतना भयभीत होगा कि अपने-आपको परमात्मा की शरण मे छोड देगा । अत भारतीय धर्म-दर्शन भक्ति की धारा मे वहेगा । प्रत्येक भक्त के अलग-अलग आराध्य होगे । ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म अपनी मौलिकता से दूर होने लगेगा । क्योकि उसमे आत्मा इतनी स्वतन्त्र है कि वह किसी के समक्ष समर्पण की बात नही सोचती । किन्तु समाज के वहाव मे जैनधर्म भी भारतीय जीवन-पद्धति के अनुरूप ढल जायेगा । भक्तिवाद, पूजा-उपासना इसमे भी सम्मिलित हो जायेंगे ।

यद्यपि १९–२० वी शताब्दी तक परिस्थितियो मे वहुत अन्तर आयेगा । राजनीति, अर्थव्यवस्था एव नैतिक मूल्यो का विकास होगा । भौतिक समृद्धि वढेगी । उसके प्रति लालसा बनी रहेगी । व्यक्तिवाद का विकास होगा । गमनागमन के साधनो मे विकास और विदेशो से सम्पर्क वढ जाने से समाज मे वह ऊँच-नीचता नही रहेगी जो अभी है । अत इस युग मे महावीर की एक बात तो यह पूरी होगी कि वर्गविहीन समाज का निर्माण होने लगेगा ।

महावीर ने जो वैदिक क्रियाकाण्डो, यज्ञो की व्यर्थता का दिग्दर्शन किया है । इसमे अर्थव्यवस्था का असन्तुलन एव हिंसा की जो वात उन्होने कही है, वह आने वाले युग मे अधिक गहरायी से समझी जायेगी । अत. इस प्रकार के हिंसात्मक और खर्चीले यज्ञो का अभाव हो जाएगा । उपासना व धार्मिक-अनुष्ठान की पद्धति अधिक सरल हो जायेगी । क्योकि व्यक्ति के पास अवकाश बहुत कम रह जायेगा ।

इस भौतिकवाद के युग मे महावीर की वहुत-सी बातें पूरी होती दिखायी

देंगी। उन्होंने आत्म-स्वातन्त्र्य की बात कही है। हर व्यक्ति अपना रास्ता स्वयं बनाये। इस युग तक व्यक्तिवाद इतना बढ़ेगा कि व्यक्ति की जो योग्यता और प्रयत्न होंगे उन्हीं के अनुसार उसे सुख-सुविधा मिलेगी। कोई किसी का भार नही ढोयेगा। महावीर भी यही चाहते थे। किन्तु यह प्रगति सामाजिक-स्तर पर अधिक होगी, धार्मिकस्तर पर कम।

धार्मिकस्तर पर एक महत्वपूर्ण कार्य महावीर की दृष्टि मे यह होगा कि समाज अनायास ही ईश्वर के हस्तक्षेप को अस्वीकार करने लगेगा। व्यक्ति के जीवन मे पुरुषार्थ के प्रति लगाव होगा। किन्तु ईश्वर के विदा होने पर आध्यात्मिक स्तर पर जो प्रगति होनी चाहिए वह नही होगी। अपितु ईश्वर की दण्ड-व्यवस्था का भय और चले जाने से व्यक्ति मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र हो जायेगा। फिर भी उसका नियन्त्रण उसी के द्वारा होगा।

इस युग मे एक क्रान्ति यह अवश्य होगी कि महावीर ने जिन बातो को धार्मिकस्तर पर कहा है, तत्वज्ञान की जो व्याख्या की है, विज्ञान की प्रगति से उसकी बहुत-सी बातें समर्थित हो जायेगी। जीव और अजीव की पहिचान तथा उनके कार्य उस समय प्रयोग से सिद्ध किये जा सकेंगे। महावीर ने आत्मा को जो 'समय' कहा है, उस समय यह भलीभाति सिद्ध हो जायेगा कि किसी का भी अस्तित्व समयसापेक्ष ही है। इसी प्रकार अनेकान्त की बात जो महावीर ने कही है, उसे भी विज्ञान प्रमाणित करेगा कि वस्तु अनन्त-धर्मा है और हम उसके एक अंश को एकबार मे जान पाते हैं। अणु के सम्बन्ध मे जो सामान्य धारणा है कि उसे पूर्ण रूप से जान लिया गया है, उसमे भी परिवर्तन होगा। उसके भी अनेक धर्म प्रकट होंगे। महावीर ने गणित के सम्बन्ध मे बहुत-सी बातें कही हैं, उनका सम्बन्ध इस युग मे जाकर विज्ञान के साथ जुडेगा।

महावीर ने तप के अन्तर्गत ध्यान की विशद व्याख्या की है। ध्यान के माध्यम से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति बतलायी है। इसका इस युग मे अधिक प्रचार होगा। भौतिकवाद से व्यक्ति जब ऊबने लगेगा तब वह आध्यात्म की शरण मे ही आयेगा। भौतिकवाद जिस देश मे जितना सघन होगा, वहा का व्यक्ति उतना ही अपरिग्रही होने लग जायेगा। सम्पत्ति का उसके पास मूल्य नही

रहेगा, कोई ग्राकर्षण नही। ग्रत वह तनाव से मुक्ति पाने ध्यान मे उतरेगा। यद्यपि बहुत दिनो तक महावीर ने जिन्हे गलत ध्यान कहा है उन्ही का अनुसरण किया जावेगा। क्योकि उनको करने से मूर्च्छा ग्रायेगी, जो व्यक्तियो को मानसिक तनाव से मुक्ति देगी। यदि उन्हे सही ज्ञान की ग्रोर परिवर्तित किया जा सका तो महावीर की धार्मिक प्रक्रिया अधिक विकसित हो सकेगी।

१९–२० वी शदी मे महावीर की दो विशेषताग्रो को यदि समझा गया ग्रौर उनको ग्रपनाया गया तो श्रमणधर्म के प्रचारित होने मे देर नही लगेगी। महावीर ने ग्रपने युग मे विश्राम की स्थिति मे तनाव की बात कही थी। लोग परमात्मा के हाथ मे ग्रपने को छोडकर विश्राम कर रहे थे। महावीर ने पुरुपार्थ करने को कहा सो वे सफल हुए। इसी प्रकार इस तनाव के युग मे यदि कोई ऐसी बात कही गयी जो व्यक्ति को शान्ति मे ले जाय तो उसका ग्रादर होगा। श्रमणधर्म की ग्रनेक व्याख्याएँ समय-समय पर होती रही हैं। ग्रत इस युग मे भी यदि महावीर के तत्वज्ञान, आचरण आदि को नई शब्दावली प्रदान की गयी तो अवश्य उसका जन-जीवन मे प्रचार होगा। कुछेक ग्राचार्य इस युग मे ऐसे होंगे जो बात तो महावीर की ही करेंगे, पर उनकी व्याख्या नई होगी। ग्रौर जिस प्रकार नये रास्ते पर चलने पर स्वयं महावीर को उनके युग ने बहुत बाद मे समझ पाया, उसी प्रकार इन ग्राचार्यों को इस परम्परा मे ग्रहण करने मे देर लगेगी। इससे इतना अवश्य होगा कि बीच के समय मे श्रमणधर्म जो एक निश्चित सम्प्रदाय व वर्ग के दायरे मे बध जायेगा, उससे उसे इस युग मे मुक्ति मिलेगी। इसके लिए ग्रावश्यकता होगी लोकभाषा को अपनाने की।

जहा तक महावीर द्वारा कथित सिद्धान्तो की उपयोगिता की बात है, इस क्षेत्र मे उनको बडी सार्थकता मिल सकेगी। कुछ ही बातो को लें। महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा इस युग के लिए ग्रधिक उपयोगी हो सकेगी। यदि अहिंसा की परिभाषा केवल जीवो की हिंसा न करना तक ही सीमित रही तो इस युग मे कोई कार्य न हो सकेगा। क्योकि विज्ञान के माध्यम से इतने साधन विकसित होंगे कि क्षणभर मे किसी भी देश को भस्म किया जा

सकेगा। अत इस युग मे अहिंसा की उस परिभाषा को विकसित करना पडेगा, जिसमे व्यक्ति दूसरे की वाधा न वने। इतना अनुपस्थित होकर अपनी प्रगति करे कि दूसरे की स्वतन्त्रता वाधित न हो। इससे विरोध की स्थिति ही न वनेगी, जो हिंसा का प्रमुख कारण है।

सत्य की परिभाषा यदि तत्वो के अन्वेषण के रूप मे की गयी तो इस युग के जैसी सत्य की दूसरी प्रतिष्ठा नही होगी। क्योकि यह युग विज्ञान का युग होगा, जिसमे उन सव सूक्ष्मताओ को जानने का प्रयत्न किया जायेगा, जिन्हे महावीर ने भेदविज्ञान के द्वारा जाना था। अन्तर केवल यह रहेगा कि महावीर ने जड और चेतन दोनो का तत्वानुवेषण किया था, इस युग मे अचेतन द्रव्यो के विश्लेषण मे होड लगेगी। एक सम्भावना यह हो सकती है कि विज्ञान की शक्ति का मोड किसी दिन चेतन के विश्लेषण की ओर भी हो सकता है, जिसमे महावीर का आत्मविज्ञान वहुत उपयोगी होगा। महावीर ने जो वहुचित्तता, एक व्यक्ति मे अनेक चित्त, की वात कही है, उसका पूर्ण विश्लेषण इस युग मे मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा हो सकेगा।

विज्ञान की जितनी प्रगति होगी, उतनी ही महावीर के सिद्धान्तो को नयी परिभाषा मिलने की आशा है। एक उदाहरण लें। महावीर ने कहा कि शरीर को जो सुख मानने की प्रथा चल पडी है, उसे संकुचित करना चाहिए। सुख मानने की यह धारणा इस युग मे और अधिक वढ़ेगी। व्यक्ति अपने शरीर को वैज्ञानिक उपकरणो द्वारा वहुत वडा कर लेगा। वायुयान द्वारा उसके पैर लम्वे हो जायेंगे। ध्वनियन्त्र उसकी वोलने की शक्ति को वढा देंगे। दूरभाप जैसे यन्त्रो का आविष्कार उसके कानो की परिधि लम्वी कर देंगे। तथा दूर-अन्वीक्षक यन्त्र उसकी आखो को हजार गुना वढा देंगे। इस प्रकार इस युग के व्यक्ति का शरीर समस्त ससार से सम्वन्धित हो सकेगा। ऐसी स्थिति मे उसकी इन्द्रियो की शक्ति का दमन करना सम्भव न होगा। हा, यह हो सकता है कि उसकी इन्द्रियशक्ति की दिशा वदल दी जाय। उसे आध्यात्म से जोड दिया जाय। ऐसा होने पर महावीर के युग मे सीमित शरीर वाला मानव जितना कार्य करता था, उससे इस वैज्ञानिक युग का मानव अधिक लोगो को प्रभावित कर सकेगा।

'इस प्रकार आयुष्मति कनकप्रभा ! आगामी हजार वर्षों व उसके भी आगे महावीर की उपयोगिता के प्रति असदिग्ध हुआ जा सकता है । यह बात अलग है कि प्रत्येक युग का श्रमणधर्म अपने नये स्वरूप मे उपस्थित होगा । नये लोगो को प्रभावित करेगा । उसके साथ यही होता आया है । इस बात की पूरी सम्भावना है कि महावीर जैसे व्यक्तित्व मुक्त होकर भी इस वातावरण मे व्याप्त रहे । अत जिस प्रकार वैज्ञानिक युग मे ध्वनि एव पदार्थ के स्वरूप को यन्त्रो द्वारा पकडा जा सकेगा, उसी प्रकार किसी माध्यम से यह भी सम्भव है कि महापुरुषो की किरणो को भी सकलित किया जाने लगे । यदि ऐसा हो सका देवी कनकप्रभा ! तो जगत् के साथ बहुत बडा उपकार होगा विज्ञान का । वातावरण मे व्याप्त आध्यात्म का ।'

'आयुष्मान कलाकारो ! मैं नही जानता अनागत के सम्बन्ध मे मुझे जो अनुभूति हुई है, वह कहा तक ठीक होगी । किन्तु इतना अवश्य लग रहा है कि महावीर के धर्म मे जो एक वैज्ञानिकता और निष्कपटता है, यदि यह अन्त तक बनी रही तो यह धर्म प्रत्येक युग मे क्रान्ति लायेगा । क्योकि यह इसके स्वभाव मे है । वैसे विकृतियो के आगमन की सम्भावना हर बदलती हुई परिस्थिति मे होती है ।'

अब मैं अपनी बात का उपसहार कर इस कथा का समापन करना चाहूँगा । मैंने आप से महावीर के पूर्व की परम्परा की बात की, उसके तीर्थङ्करो के विशिष्ट गुणो की । पूर्वरग के रूप मे उन परिस्थितियो को भी हम जान सके, जिनमे महावीर जैसे व्यक्तित्व को जन्म देने की क्षमता थी । महावीर का जन्म, उनका शैशव, बचपन के विभिन्न प्रसग, विवाह के प्रति उनकी निसगता एव माता-पिता के प्रति उनके कर्तव्यो का दिग्दर्शन हमने कथा के प्रारम्भिक अश मे किया । यह सब विस्फोट महावीर के 'दर्शन' नामक विशेष गुण का था, जिसके माध्यम से वे ससार का दर्शन अच्छी तरह कर सके ।

महावीर के अभिनिष्क्रमण से लेकर परमज्योति की प्राप्ति तक का समय उनकी ज्ञानोपलब्धि का काल है । 'ज्ञान' गुण का अर्थ है जगत् के पदार्थों का सम्यक्रूप से विश्लेषण । जीव एव अचेतन की पृथकता का स्पष्ट

अनुभव। तथा स्वभाव की प्राप्ति का आनन्द। वास्तव मे महावीर की ज्ञान-मीमासा व्यक्ति के मानस का सूक्ष्म अध्ययन है।

महावीर के चरित्र का पूर्ण विकास उनके तपस्वी जीवन मे हुआ। इसमे मैंने आपसे कहा है कि किस प्रकार उन्होने सत्य के मिलने पर लोकवाणी मे अपनी देशना दी, कितनी अन्य धर्मों को मानने वाली प्रतिभाओ ने महावीर के अस्तित्व एव उनकी चिन्तता को नमन किया। महावीर के चतुर्विध-सघ व्यवस्था का वर्णन करते हुए मैंने आपसे यह वतलाया है कि महावीर ने कैसे श्रावक बनाने की कला को विकसित किया है। साध्वीसघ के निर्माण द्वारा उन्होने नारी को सम्मान दिया है। महावीर के करुणा के सम्वन्ध मे भी आपने देखा कि वे घटनाओ की गहरायी तक कैसे पहुचते थे। उनकी करुणा जीवन के सभी तलो पर व्याप्त थी। परम्परा से भिन्न चलकर भी वे परम्परा की अच्छाईयो का सम्मान करते रहे। परिनिर्वाण का चित्र मैं अधिक स्पष्ट नही कर सका। पता नही क्यो उसे कहते मेरी आखें भर आती रही हैं।

शिष्य-परम्परा की वात कहते हुए मैंने व्यक्तिविशेष के नाम, उनकी तिथिया अथवा उनके दीक्षास्थलो आदि को ऐतिहासिक दृष्टि से नही पकडा। क्योकि महावीर गुरु एव शिष्य इन दोनो स्थितियो मे वडे निरपेक्ष-से थे। फिर भी उनके जो शिष्य हुए है, उनका योगदान तो मानना ही पडेगा। इस प्रसग मे महावीर की वाणी के साहित्य की चर्चा मैंने अविक इसलिए नही की, क्योकि वह महावीर को जानने का दूसरा रास्ता है। उससे हम चले नही। उनको अच्छी तरह जानकर ही उस पथ से गुजरा जा सकता है। दूसरी वात यह कि शास्त्र हमारे वीच उपलब्ध हैं, आप कभी उनका अध्ययन कर सकेंगे।

'महावीर की देशना मे मेरा प्रयत्न उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को पकडना रहा है। अत उनके सिद्धान्तो की क्रमवार चर्चा न करके उससे महावीर का कौन-सा रूप प्रगट होता है, उसे सामने लाया गया है। यद्यपि इस माध्यम से भी उनके भेद-विज्ञान, कर्म-सिद्धान्त, ज्ञानमीमासा, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, पांच व्रत, गृहस्थ एव मुनिधर्म, धर्म का स्वरूप, तपश्चर्या की व्याख्या, मोक्ष का स्वरूप आदि सिद्धान्तो का विवेचन हो गया है। और अभी मैंने महावीर को समसामयिक सन्दर्भ मे भी रखकर देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार

जो आपने प्रारम्भ मे कहा था कि ग्राचार्य, हमे ग्राप महावीर की कथा वतायें तो हम ग्रपनी कला का उसे विषय वना सकेंगे, सो मैंने ग्रपना कार्य पूरा कर दिया । ग्रपने उत्तरदायित्व की वात ग्राप जानें ।'

००

३२. निष्पत्ति

'आचार्यप्रवर ! वह उत्तरदायित्व भी पूरा हो चुका है ।'

'क्या कहते हो चित्रागद ?'

'हा गुरुदेव ! कथा के प्रारम्भ मे आप हमे गुहा तक ले गये थे । और दिखायी थी उसकी दीवालो पर सूनी चित्तभित्तिया । सुश्री कनकप्रभा और उनके सहयोगी कलाकार पूर्णकलश के परिश्रम एव मेधा की अनुकृतिया । आचार्य ! वे अब रगो से भर गयी हैं । अनुगृह करे, चलकर उन्हे देखने का ।'

आचार्य कश्यप इस घोषणा से आश्चर्य से भर गये । तुरन्त उन्हे ध्यान आया कि वे इन १३ दिनो मे गुहा के भीतर ही नही गये, इतने वे अपने भीतर थे । तो क्या इन कलाकारो ने अपनी क्षमता इन्ही दिनो मे प्रदर्शित कर दी ? अवकाश का इतना सुन्दर उपयोग ? क्या होगा रूप मेरी कल्पना का ? यह सोचते ही वे उठ खडे हुए । गुहा की ओर चल पडे । शिल्पी-सघ ने उनका अनुगमन किया, जिसमे चित्रागद आदि सबसे आगे थे ।

गुहा के समीप पहुचते ही चित्रागद मार्गदर्शन करने लगा अपने जीवन के मार्गदर्शक का । गुहा मे प्रवेश करते ही आचार्य प्रथम भित्तिचित्र के समीप रुक गये । चित्रागद कला की सूक्ष्मता एवं रगो का प्रयोग समझाने लगा शिल्पीसघ को । आचार्य तो सब जानते ही थे ।

'आचार्यप्रवर ! यह प्रथम चित्र माता त्रिशला द्वारा स्वप्न-दर्शन का है । ऊपर कौने मे सर्वप्रथम हाथी का चित्र है । फिर क्रमश वृषभ, सिह, लक्ष्मी, मालाए, चन्द्र, सूर्य, क्रीडारत-मछलिया, कमल के पत्तो से ढका स्वर्णकलश, जलाशय, समुद्र, सिहासन, देव का विमान, धरणेन्द्र भवन, रत्नराशि एव निर्धूम अग्नि-ज्वाला के चित्र हैं । और इस दायी ओर के कौने मे देख रहे हैं आप रानी त्रिशला और राजा सिद्धार्थ के चित्र । त्रिशला अपने स्वप्न-दर्शन का फल पूछ रही हैं । गुरुदेव, यह है हमारी अतिथि कलाकार की कृति । देखा

आपने, सुश्री कनकप्रभा उस चित्र से भी आगे बढ गयी हैं इसमे जो अजन्ता की दूसरी गुहा मे भगवान बुद्ध की माता के स्वप्न-दर्शन के रूप मे है ? इसकी बारीकिया तो वही समझा सकेंगी, आगे आयें देवी कनकप्रभा ।'

किन्तु कहाँ थी कनकप्रभा ? एक दूसरे चित्र के समक्ष दृष्टि जमाये हुए वह अपनी लज्जा और सकोच का वहन कर रही थी । बहुत कहने पर भी वह वहा नही आयी । अपनी कृति की समीक्षा कही स्वय की जाती है ? वह भी गुरुदेव के सामने ?

'और यह है आचार्य, महावीर के जन्मोत्सव का मनोहारी दूसरा चित्र । देख रहे है इसमे माता त्रिशला की प्रसन्नता ? लगता है, अभी उठकर हमे जन्मोत्सव का मिष्ठान्न न बाटने लगे ? इधर लुटा रहे हैं खजाना राजा सिद्धार्थ । अमूल्यनिधि मिल जाने पर इसका क्या महत्व ? ये है, नगरवासी, राजभवन के परिजन । खुशी से इनके पाव ही जमीन पर नही पड रहे है ।'

'यह तीसरा चित्र महावीर की आमलक क्रीडा का है । कितना भयानक है यह चित्र का सर्प ? और महावीर ? उनकी सौम्यता, बालभाव, तेजस्विता के निखार मे तो कलाकार ने कमाल ही कर दिया है । बालको के वस्त्रो की सजीवता देखिये गुरुदेव, फूक मारने से कही उडने न लगें । कितना उल्लास भरा है इनके बचपन मे ।'

'इस चित्र की मैं क्या व्याख्या करू गुरुदेव ! महावीर सब कुछ बिसारकर अभिव्यक्ति की खोज मे निकल पडे हैं । देखिए ऐसे निसग होकर जा रहे हैं, जैसे अभी वापिस आ जायेंगे । यह खडी है राजभवन के गवाक्ष पर उन्हें निहारती हुई माता त्रिशला । निहारना जैसा लग रहा है । अश्रु भरे नयनो से वे देख कहा पाती होगी ? कोई मा, अपने लाडले को इस तरह जाता हुआ नही देख सकती । पिता सिद्धार्थ ये इस ओर खडे हैं । राजभवन के द्वार पर । सोच रहे हैं—वर्द्धमान क्या सचमुच जा रहा है ? या अभी खेलकर लौट आयेगा ? आचार्य, उनकी व्यथा वे ही जानें, किन्तु इन नगरवासियो की व्यथा तो उनकी मुखाकृतिया ही प्रगट कर रही है ।'

'भद्र चित्रागद ! आप सब इतने निमग्न थे कथा मे ? एक-एक शब्द को उतारकर रख दिया है इन चित्रो मे । किसने बनाया है यह चित्र ?'

'प्रिय श्रीकण्ठ, पीछे क्यो छिप रहे हो ? आचार्य तुम्हें इस चित्र का दण्ड देने नही बुला रहे हैं ।'

'आचार्य, यह है—महावीर के अभिग्रहपूर्ति का चित्र । वे जगत् की परीक्षा ले रहे है अथवा जगत् उनकी, इस चित्र से स्पष्ट हो जायेगा । चित्र के एक ओर ये कौशाम्बी के नागरिक हैं, महावीर के भूखे लौट जाने के कारण दुखी, चिंतित । और दूसरी ओर यह चित्र है चन्दनबाला और महावीर का । कौन किसको क्या दे रहा है, यह उनके मुख के भाव ही बता रहे हैं । उन्हीं नागरिको की मुखाकृतियां इधर देखिये, कैसे कमलो जैसी खिल गयी हैं । महावीर को आहार मिल जाने से ।'

'इस चित्र मे यह है ऋजुकूला नदी का तट, जहां ये ध्यानमुद्रा में हैं भगवान महावीर । परमज्योति उनको प्राप्त हो चुकी है, उसका प्रतीक है यह प्रभामण्डल एव पृष्ठभूमि मे उगता हुआ सूरज । हासिये पर देख रहे हैं आचार्य ! यह काली पट्टी । लगता है समस्त अज्ञान अन्धकार के रूप मे यहां आकर सिमिट गया है ।'

'ये एक तरफ के छह चित्र पूरे हुए । जैसे छह बाह्य तपो की साधना हो गयी है । अब आप इस तरफ पधारें, गुहा की दूसरी भित्ति पर ।'

'यह मानवा चित्र महावीर के प्रथम समवसरण का है । कथा सुनते समय यह कल्पना नही थी कि समवसरण इतना सुन्दर सभामण्डप होता होगा । लगता है कलाकार मे कुबेर का वास रहा होगा । कितनी सुन्दर सरचना की है । यह खडा है वटुकरूपी इन्द्र, इन्द्रभूति गौतम के साथ । ऊपर गंधकुटी पर विराजमान हैं भगवान महावीर । केवलज्ञान से इतनी दीप्त आ जाती है व्यक्तित्व मे यह इनके चित्र को देखकर ही पता चलता है ।'

'इसके पार्श्व का यह चित्र महावीर के गणधरो का है । प्रतीत होता है सारी प्रज्ञा यहा आकर केन्द्रीभूत हो गयी है । इसी क्रम मे ये दो चित्र केशी-गौतम सवाद एव गोशालक और महावीर के मिलन से सम्बन्वित है । इस चित्र मे देखिये आचार्य, कलाकार ने किस प्रकार गोशालक की तेजोलेश्या की ज्वलनता का अकन किया है । उसी अनुपात मे सामने हैं शीतलता के प्रतीक भगवान महावीर । क्रोध और करुणा का कितना सुन्दर अंकन ।'

'यह ग्यारहवाँ चित्र महावीर की चतुर्विध संघ-व्यवस्था का है। श्रावक, श्राविका, साधु एव साध्वियो की कितनी सुन्दर भावपूर्ण आकृतिया हैं। लगता है यहा आकर महावीर की चेतना, दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र इन चारो को पूर्णता प्राप्त हो गयी है। अथवा एक आत्मा ही इन चार रूपो मे विकसित हो गयी है।'

'और यह अन्तिम बारहवा चित्र है महावीर के ध्यान का। उनके परि-निर्वाण का। महावीर कितनी सौम्य और शान्त मुद्रा मे ध्यानस्थ हैं। पृष्ठ-भूमि मे है पावा नगरी की अट्टालिकाए। वे प्रतीक हैं इस बात की कि महावीर ने राजभवन, गृह-द्वार व ससार के होते हुए भी उसे पा लिया, जिसके लिए उनका जन्म हुआ था। उनके केवलज्ञान एव परिनिर्वाण के प्रतीक के रूप मे ऊपर चित्रित है—निर्धूम अग्नि। निर्मल शुद्ध आत्मा का पर्यायवाची।'

'आचार्य ! यह है गुहा की सामने की भित्ति। अरे, आचार्यप्रवर, आप यहा बैठे-बैठे क्या देख रहे है ? अच्छा, उस वाचाल श्रीकण्ठ ने कथा कहते हुए अपने आचार्यप्रवर का चित्र ठीक बनाया है या नहीं, यही निरीक्षण कर रहे हैं गुरुदेव। श्रीकण्ठ, कुछ भूल रह गयी हो तो आगे बढ, आचार्य से क्षमा माग ले। हमारे आचार्य ने भी महावीर की करुणा पायी है। क्यो देवी कनकप्रभा, ठीक कह रहा हू न ?'

कनकप्रभा बहुत पहले से आचार्य के मुखमण्डल मे हो रहे परिवर्तनो को पकड रही थी। इस अन्तिम भाव को पकडती हुई वह कुछ भी कह पाने मे असमर्थ हो गयी। चित्रागद के सम्बोधन को सुनकर वह कुछ विक्षिप्त-सी होती हुई बोली—

'भद्र ! और सब ठीक कह रहे हो, किन्तु जिसके सम्बन्ध मे कह रहे हो वे आचार्य हैं कहा ? आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान का यह उपदिष्टा आज प्रयोग से इसे समझा गया। बन्धु, देखो यह उनका मात्र शरीर रह गया है। उनकी आत्मा तो परमपद की यात्रा पर निकल गयी है।

यह कहकर कनकप्रभा ने आचार्य कश्यप के शरीर को जैसे ही हिलाया वह चित्रागद की गोद मे लुढक गया। शिल्पीसघ चित्रलिखित-सा एक-दूसरे को निहारता रह गया। उनके न होठ हिल रहे थे, न पलक झपक रहे थे

मात्र उनकी चेतनाओ मे सवाद हो रहे थे। महावीर के जीवन की प्राणवत्ता के सम्बन्ध मे, उनकी कथा मे डूबने की फलश्रुति के सम्बन्ध मे तथा गुणो की राशि तीर्थङ्कर महावीर की अतुलनीयता के सम्बन्ध मे। ऐसे थे अप्रतिम तीर्थङ्कर महावीर। चितेरो की आत्मा और कला के महावीर।

००